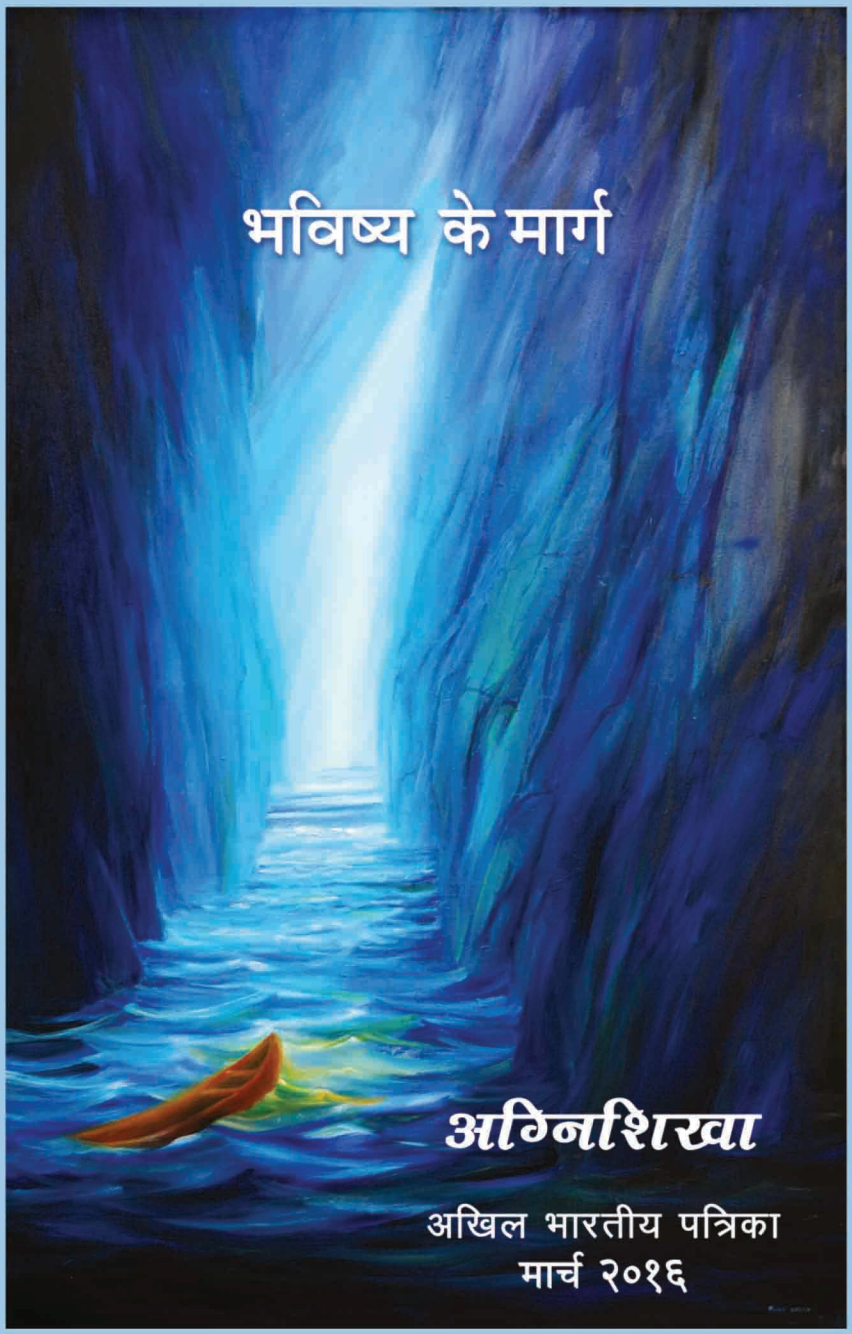
भविष्य के मार्ग
अग्निशिखा
अखिल भारतीय पत्रिका
मार्च २०१६

अग्निशिखा मार्च २०१६ वर्ष ४६, अंक ८, पूर्णांक ५४७

विषय-सूची

'मार्ग'

(श्रीमां के वचनों का संकलन)

"यह सच है कि मार्ग बहुत लम्बा है, लेकिन जो **सच्चाई के साथ** उसका अनुसरण करता है उसके लिए **सचमुच बहुत** मजेदार है और पग-पग पर तुम्हें अपने श्रम के लिए पुरस्कार मिलता है।"

—श्रीमां

'पुरोधा'

दैनन्दिनी		४४
बिनती	जाबिर हुसैन	४८
भक्त के हृदय में समा गये भगवान्!	वन्दना	५२
फॉर्म IV		५७
झंझुनू की सूचना		५८

अग्निशिखा का वार्षिक शुल्क :

एक वर्ष—१८० रु.; तीन वर्ष—५२० रु.; पांच वर्ष ८६० रु.

श्रीअरविन्द सोसायटी की मासिक पत्रिका

Website: www.aurosociety.org

सम्पादिका : वन्दना

प्रकाशक : प्रदीप नारंग, श्रीअरविन्द सोसायटी, पॉण्डिचेरी—६०५००२

मुद्रक : स्वाधीन चैटर्जी, श्रीअरविन्द आश्रम प्रेस, पॉण्डिचेरी

भविष्य के नूतन मार्ग

सम्पादकीय टिप्पणी :

२९ फरवरी १९५६ को श्रीमां ने अतिमानसिक अभिव्यक्ति की घोषणा की। अप्रैल १९५६ की 'बुलेटिन' में दो सन्देश प्रकाशित हुए थे :

"प्रभु तूने चाहा और मैं चरितार्थ कर रही हूं।
धरती पर एक नया प्रकाश फूट रहा है।
एक नया जगत् जन्म ले चुका है।
जिन चीजों के लिए वचन दिया था वे चरितार्थ हो गयी हैं।"

"धरती पर अतिमानस का अवतरण अब एक आश्वासन भर नहीं है बल्कि एक जीवन्त तथ्य, एक यथार्थता बन चुका है।

"वह यहां काम में लगा है, और एक दिन आयेगा जब एकदम से अन्धा, एकदम से अचेतन, यहां तक कि एकदम से अनिच्छुक व्यक्ति भी उसे पहचानने को बाधित होगा।"

अब हमारे सामने मुख्य प्रश्न यह है कि इस 'नयी अभिव्यक्ति' में हम किस तरह भाग ले सकते हैं; किस तरह सहयोग दे सकते हैं? अप्रत्याशित और गणनातीत वस्तुओं से भरा यह एकदम से नवीन पथ है। जगत् से भाग निकलने के पुराने तरीके और मार्ग उन लोगों के लिए अब मायने नहीं रखते जो 'नवीन जगत्' की क्रीड़ा में भाग लेने के इच्छुक हैं। वह भगवान् द्वारा प्रेरित 'आनन्दमयी क्रीड़ा' है। मनुष्यों और धरती को दिया गया यह नया योग चेतना को एक नये अभियान, नये हर्ष, भविष्य के नये मार्ग की ओर बढ़ाये लिये जाने को प्रस्तुत है।

यह अंक इसी नये 'मार्ग' को निवेदित है जो सृष्टि के आध्यात्मिक क्रम-विकास के इतिहास में सबसे अधिक आकर्षक और सबसे अधिक अभूतपूर्व है।

एकमात्र सुरक्षा

केवल एक ही सुरक्षा है : भगवान् से चिपके रहो, इस तरह (दोनों मुट्ठियां बांधने का संकेत)। चिपके रहना, लेकिन उससे नहीं जिसे तुम भगवान् सोचते हो, उससे भी नहीं जिसे तुम भगवान् अनुभव करते हो। ... एक अभीप्सा... यथासम्भव अधिक-से-अधिक सच्ची, निष्कपट अभीप्सा। और उससे चिपके रहो।

—श्रीमां

'मार्ग'

बुधवार के सम्मिलित ध्यान के समय

आज की सांझ तुमलोगों के बीच भगवान् की ठोस और भौतिक 'उपस्थिति' विद्यमान थी। मेरा रूप जीवित स्वर्ण का था, सारे विश्व से बड़ा, और मैं एक बहुत बड़े और विशालकाय सोने के दरवाजे के सामने खड़ी थी जो जगत् को भगवान् से अलग करता है। जैसे ही मैंने दरवाजे पर नजर डाली, मैंने चेतना की एक ही गति में जाना और संकल्प किया कि "अब समय आ गया है", और दोनों हाथों से एक बहुत बड़ी सोने की हथौड़ी उठा कर मैंने एक प्रहार किया, दरवाजे पर एक ही प्रहार और दरवाजा टुकड़े-टुकड़े हो गया।

तब अतिमानसिक 'ज्योति', 'शक्ति' और 'चेतना' धरती पर अबाध प्रवाह के रूप में बह निकलीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ५२

प्रभु जो मुझसे करवाना चाहते थे, मैंने कर दिया

मेरे प्रभो, तू मुझसे जो करवाना चाहता था वह मैंने कर दिया। 'अतिमानस' के द्वार खोल दिये गये हैं और 'अतिमानसिक चेतना', 'ज्योति' और 'शक्ति' की धरती पर बाढ़ आ गयी है।...

अब चूंकि अतिमानस यहां है—इसके बारे में मुझे **पूरा विश्वास** है, भले सारी धरती पर उसे जानने वाली मैं अकेली ही क्यों न होऊं—तो क्या इसका मतलब है कि इस शरीर का लक्ष्य पूरा हो गया है और उसकी जगह किसी और शरीर को इस काम को करना है? मैं 'तुझ' से पूछती हूं हे प्रभो, और उत्तर मांगती हूं—कोई ऐसा संकेत जिससे मुझे निश्चित रूप से पता लग जाये कि यह अब भी मेरा ही कार्य है और मुझे समस्त विरोधों, समस्त निषेधों के होते हुए इसे जारी रखना है।

संकेत चाहे कुछ भी हो, इसकी मुझे परवाह नहीं है पर होना चाहिये **स्पष्ट**।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. ५७-५८

अब मात्र आशा नहीं, बल्कि निश्चिति

मैं जानती हूं—कि अब यह सुनिश्चित है कि हम उस चीज को पा लेंगे जिसकी उन्होंने हमसे आशा की है। अब यह आशामात्र नहीं रही, बल्कि एक निश्चिति हो गयी है। अब केवल समय की बात है जो इस उपलब्धि के लिए जरूरी है और वह हमारे व्यक्तिगत प्रयत्न, हमारी एकाग्रता और हमारी सद्भावना के... और उस **महत्त्व** के अनुसार जो हम इस तथ्य को देते हैं, कम या अधिक लम्बा होगा।

अन्यमनस्क दर्शक को चीजें बहुत कुछ वैसी ही लग सकती हैं जैसी वे पहले थीं, पर जो देखना जानता है और बाह्य प्रतीतियों द्वारा भ्रान्त नहीं होता उसके लिए चीजें ठीक चल रही हैं। प्रत्येक अपना अधिकतम प्रयत्न करता चले तो शायद सबके लिए पहले प्रत्यक्ष परिणामों के दृष्टिगत होने में बहुत अधिक वर्षों के बीतने की जरूरत न होगी।

यह देखना तुम्हारा काम है कि यह कार्य तुम्हें संसार की अन्य सब वस्तुओं से अधिक रोचक लगता है या नहीं।...

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १३, पृ. २१५

आवश्यक अभीप्सा

एक समय आता है जब स्वयं शरीर अनुभव करने लगता है कि इस रूपान्तर के समान संसार की कोई चीज नहीं है जिसके लिए जीवन धारण किया जाये; ऐसी कोई चीज नहीं जिसके लिए इतनी अभिरुचि हो सके जितनी रूपान्तर के लिए तीव्र अभिरुचि। ऐसा प्रतीत होता है मानों शरीर के सब कोषाणु उस 'प्रकाश' के प्यासे हैं जो व्यक्त होना चाहता है; उसको पुकारते हैं, उसमें एक गभीर आनन्द पाते हैं और 'विजय' के बारे में **सुनिश्चित** हैं।

इसी अभीप्सा को मैं तुम्हारे अन्दर सञ्चारित करने की कोशिश कर रही हूं और तुम समझ जाओगे कि इस कार्य की तुलना में, 'प्रकाश' में रूपान्तरित होने की तुलना में जीवन का और सब कुछ नीरस, निःसार, निरर्थक और बेकार है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २१५-१६

रूपान्तर के तीन उपाय

मैं अधिकाधिक स्पष्ट तौर पर देख रही हूं कि रूपान्तर की इस समस्या के लिए तीन उपाय हैं, आगे बढ़ने के तीन रास्ते हैं और पूर्ण होने के लिए तीनों को मिलाना चाहिये। पहला, स्वाभाविक रूप से सबसे महत्त्वपूर्ण मार्ग वह है जिसे हम "आध्यात्मिक" कह सकते हैं, जो 'चेतना' के साथ सम्पर्क का है—'प्रेम'-'चेतना'-'शक्ति', हां, यही; ये ही हैं तीन रूप : परम 'प्रेम'-'चेतना'-'शक्ति', और उनके साथ सम्पर्क, तादात्म्य। अर्थात्, सभी भौतिक कोषाणुओं को उस 'तत्' को ग्रहण करने-योग्य, 'उसे' अभिव्यक्त करने-योग्य—'वह' बन जाने-योग्य "बनाना"। सभी साधनों में यह सबसे ज्यादा सशक्त और सबसे ज्यादा अनिवार्य है।

एक गुह्य मार्ग है जो सभी मध्यवर्ती लोकों का हस्तक्षेप लाता है। इसमें सभी शक्तियों और सभी विभूतियों और सभी मध्यवर्ती क्षेत्रों का विस्तृत ज्ञान होता है और वह मार्ग इन सबका उपयोग करता है। वहां व्यक्ति अधिमानस के देवों का उपयोग करता है। यह दूसरा मार्ग है। शिव, कृष्ण, श्रीमां के सारे रूप इस दूसरे मार्ग के अंश हैं। और फिर, उच्चतर बुद्धि का मार्ग है। यह वैज्ञानिक भाव से परे के भाव का प्रक्षेपण है। यह समस्या को नीचे से पकड़ता है। इसका भी महत्त्व है। विस्तृत व्यवहार की दृष्टि से यह मार्ग अनुमानों को कम कर देता है और ज्यादा प्रत्यक्ष तथा ज्यादा यथार्थ क्रिया लाता है।

अगर तीनों को मिलाया जा सके तो स्पष्ट है कि चीज ज्यादा तेज चलेगी।

पहले के बिना कुछ भी सम्भव नहीं है, बल्कि पहले के बिना बाकी दोनों भ्रामक होते हैं : वे कहीं नहीं पहुंचाते, तुम अनिश्चित काल तक गोल-गोल घूमते रहते हो। लेकिन अगर तुम पहले को दूसरे दोनों से लैस कर दो तो मेरा ख्याल है कि क्रिया बहुत अधिक यथार्थ, अधिक सीधी और अधिक तेज हो जाती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ६२

श्रद्धा की शक्ति

मानवजाति का वह भाग, मानव चेतना का वह भाग, जिसमें अतिमानस

के साथ एकाकार होने की और स्वयं को मुक्त करने की क्षमता है, वह पूर्णतः रूपान्तरित हो जायेगा—वह एक भावी सत्य की ओर बढ़ रहा है जो अभी बाह्य रूप में अभिव्यक्त नहीं हुआ है; वह भाग जो 'प्रकृति' के, पशु की सरलता के बिलकुल निकट है, 'प्रकृति' में पुनः घुल-मिल जायेगा और घनिष्ठ रूप से आत्मसात् कर लिया जायेगा। लेकिन मानव चेतना का वह कलुषित भाग उन्मूलित हो जायेगा जो अपने मन के गलत उपयोग के कारण विकृति की ओर ले जाता है। इस तरह की मानवता एक ऐसे निष्फल प्रयास का अंग है—जिसका विलयन होना चाहिये—जैसे दूसरी आदिम जातियां विश्व के इतिहास-क्रम में लुप्त हो गयीं।

प्राचीन काल के कुछ पैगम्बरों को ऐसा भविष्य-सूचक अन्तर्दर्शन हुआ था, पर जैसा अक्सर होता आया है, चीजें गड्डमड्ड हो गयीं, और उन्हें भविष्य-सूचक अन्तर्दर्शन के साथ-साथ अतिमानसिक जगत् का अन्तर्दर्शन नहीं हुआ जो मानवता के उस भाग को उठाने आयेगा जो स्वीकार करता है और इस भौतिक जगत् को रूपान्तरित कर देगा। अतः, उन लोगों को जो ऐसी अवस्था में, मानवीय चेतना के इस विकृत भाग में जन्मे हैं, आशा बंधाने के लिए उन्होंने श्रद्धा द्वारा मुक्ति की शिक्षा दी : जिन्हें जड़ में भगवान् की यज्ञाहुति पर श्रद्धा है उनका अपने-आप दूसरे जगत् में केवल श्रद्धा द्वारा उद्धार हो जायेगा—बिना समझे, बिना बुद्धि के। उन्होंने अतिमानसिक जगत् को नहीं देखा, और न ही जड़ में अन्तर्लयन की भगवान् की उदात्त 'आहुति' को देखा है जिसकी पराकाष्ठा होगी स्वयं जड़ में भगवान् की पूर्ण अभिव्यक्ति।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ३३०

शिक्षार्थी अतिमानव

अवश्य, असंख्य **आंशिक** उपलब्धियां होंगी। हर एक की क्षमता के अनुसार रूपान्तर का स्तर अलग-अलग होगा, और यह निश्चित है कि अतिमानव से मिलती-जुलती चीज तक पहुंचने से पहले न्यूनाधिक सफल या असफल प्रयास काफी संख्या में होंगे, और ये ही लगभग सफल प्रयोगात्मक प्रयास होंगे।

वे सब जो अपनी साधारण प्रकृति पर विजय पाने की कोशिश करते हैं,

जो उन गहनतर अनुभूतियों को भौतिक रूप में संसिद्ध करने की कोशिश करते हैं जो उन्हें दिव्य 'सत्य' के सम्पर्क में ले आयी हैं, जो अपनी दृष्टि 'परात्पर' और 'परम' की ओर मोड़ने के बजाय अपने अन्दर उपलब्ध चेतना के परिवर्तन को भौतिक रूप में, बाह्य रूप में संसिद्ध करने की कोशिश करते हैं वे सब नौसिखिये अतिमानव हैं। और उनके प्रयास की सफलता में अनगिनत अन्तर हैं। हर बार जब हम कोशिश करते हैं कि साधारण मनुष्य न रहें, साधारण जीवन न बितायें, अपनी गतिविधियों में, कार्य-कलापों और प्रतिक्रियाओं में दिव्य 'सत्य' को अभिव्यक्त करें; जब हम व्यापक अज्ञान द्वारा शासित न होकर उस 'सत्य' द्वारा शासित होते हैं, तब हम शिक्षार्थी-अतिमानव होते हैं और अपने प्रयासों की सफलता के अनुपात में, कम या अधिक, अच्छे शिक्षार्थी होते हैं, पथ पर कम या अधिक आगे बढ़े हुए।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. ४४७

केवल मानसिक उत्सुकता पर्याप्त नहीं है

... परन्तु, सर्वदा ही, इन दो चीजों के बीच बहुत अधिक अन्तर होता है : एक तो है एक प्रकार की मानसिक उत्सुकता जो शब्दों और विचारों के साथ खेलती है, और दूसरी है सत्ता की सच्ची अभीप्सा जो इस चीज को सचमुच, यथार्थ में जानती है कि **यही** चीज है जिसका मुख्यतः मूल्य है, अन्य किसी चीज का नहीं—उसी अभीप्सा, उसी आन्तरिक संकल्प का मूल्य है जिसके बिना और किसी चीज का कोई मूल्य नहीं; सिवाय **उसके**, **उस** सिद्धि के; **उसके** अतिरिक्त कोई वस्तु मूल्यवान् नहीं है; **उसके** सिवा अस्तित्व का दूसरा कोई कारण नहीं है, जीवन का दूसरा कोई कारण नहीं है। यदि कोई अतिमानस को खुली आंखों देखना चाहे तो यही वह आवश्यक चीज है।

... फिर भी, केवल चेतना की क्रिया, केवल एक प्रकार का आत्म-प्रभुत्व, अपने शरीर पर अधिकार, चीजों का प्रत्यक्ष ज्ञान, उस धुंधली, अस्पष्ट दृष्टि की जगह—जो केवल ऊपरी भ्रमोत्पादक और असत्य और इतने अधिक पथराये हुए रूपों को ही देखती है—तादात्म्य प्राप्त करने तथा स्पष्ट दर्शन करने की क्षमता तुम्हारे अन्दर आ सकती है। उस समय एक

अधिक प्रत्यक्ष बोध, एक आन्तरिक बोध अवश्य आना चाहिये, और आना चाहिये शीघ्रता से—यदि कोई तैयार हो।

केवल इस भावना का होना कि जिस हवा को हम सांस के साथ ले रहे हैं वह अधिक सजीव है, जो शक्ति-सामर्थ्य हमारे अन्दर है वह अधिक स्थायी है इसका बोध हो सकता है। एक अन्धे व्यक्ति की तरह यह जानने के लिए सर्वदा टटोलते रहने की जगह कि क्या करना चाहिये, एक सुस्पष्ट, यथार्थ, आन्तरिक सूचना मिल सकती है : यह ऐसा है—वैसा नहीं : **ऐसा ही है।**

ये चीजें हैं जिन्हें मनुष्य तुरत प्राप्त कर सकता है यदि वह तैयार हो।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २४८-४९

अतिमानवता का प्रत्याशी

अगर तुम अतिमन के उम्मीदवार हो तो तुम्हें अपने अहं को पार करने का निश्चय करना चाहिये, उससे ऊपर उठने का संकल्प करना चाहिये; क्योंकि जब तक तुम उसे अपने पास रखोगे तब तक तुम्हारे लिए अतिमानस एक अपरिचित, अप्राप्य वस्तु बना रहेगा।

लेकिन अगर प्रयास करके, साधना के द्वारा, प्रगतिशील आत्म-संयम के द्वारा, तुमने अपने अहं पर विजय प्राप्त कर ली है और अगर तुम उससे ऊपर उठ चुके हो, तो फिर वह तुम्हारी सत्ता के, चाहे एक सबसे छोटे ही अंश में क्यों न हो, ऐसा लगता है मानों कहीं पर एक छोटी-सी खिड़की है और उस खिड़की से ध्यानपूर्वक देखने पर तुम अतिमानस को देख सकोगे। और यह एक प्रतिज्ञा है। जब तुम उसे देखते हो तो वह इतना सुन्दर लगता है कि उसी क्षण बाकी सारे... अहं से मुक्त होने की इच्छा होती है!

अच्छी तरह ख्याल रखो, मैं यह नहीं कह रही कि अतिमानस की झांकी के लिए अहं से पूरी तरह मुक्त होना चाहिये; क्योंकि तब वह प्रायः असम्भव बात होगी। नहीं, किसी एक भाग में अहं से थोड़ा-सा मुक्त होना, तुम्हारी सत्ता के एक कोने में, चाहे मन के एक छोटे-से कोने में ही क्यों न हो; अगर मन या प्राण हो तो अच्छा ही है, लेकिन अगर संयोगवश —ओ! संयोगवश नहीं—अगर कई प्रयत्नों के बाद तुम अपने चैत्य पुरुष

के साथ सम्बन्ध स्थापित कर सके हो तो वहां का दरवाजा पूरा-पूरा खुला होता है। चैत्य पुरुष के द्वारा अचानक ही तुम्हें अतिमानस क्या है उसका सुन्दर दर्शन मिल सकता है; एक दर्शनमात्र, उपलब्धि नहीं। वह, वह बाहर निकलने का मुख्य द्वार है। लेकिन उस सुन्दर उपलब्धि, चैत्य पुरुष की उपलब्धि तक गये बिना भी—अगर तुम अपने मानसिक जगत् का एक हिस्सा या प्राणिक जगत् का एक हिस्सा मुक्त करने में सफल हो जाओ, तो वह दरवाजे में एक छिद्र की भांति होगा, दरवाजे में चाबी का एक छेद; उस छेद में से तुम्हें एक छोटी, बहुत छोटी झलक मिलती है। और वह भी बहुत आकर्षक, बहुत रोचक होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ३, पृ. २६८-६९

नमनीयता, विस्तार और पूर्ण समता

सबसे पहले, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से, जिस शर्त का मैंने जिक्र किया था : वह है पूर्ण समता। यह एक अनिवार्य शर्त है। मैं सन् १९५६ से, बरसों देखती रही हूं कि एक भी अतिमानसिक स्पन्दन इस पूर्ण समता के बिना सञ्चारित ही नहीं हो सकता। यदि इस समता का जरा-सा भी विरोध हो, अगर अहंभाव की जरा-सी भी क्रिया हो अथवा उसकी ओर रुचि प्रदर्शित हो, तो वह स्पन्दन उसमें से नहीं गुजरता, अर्थात्, वह सञ्चारित नहीं होता। यह अपने-आपमें एक काफी बड़ी कठिनाई है।

इसके अतिरिक्त, उपलब्धि को पूर्ण बनाने के लिए दो शर्तें और भी हैं, और वे आसान नहीं हैं।... ये दो शर्तें निम्न हैं : पहली है अपने-आपको विस्तृत और विशाल या यूं कहें, लगभग असीम बनाने की शक्ति ताकि तुम अपने-आपको अतिमानसिक चेतना के विस्तार तक फैला सको, जो समग्र चेतना है। अतिमानसिक चेतना समग्रतायुक्त भगवान् की चेतना है—जब मैं "समग्रतायुक्त" कहती हूं तो मेरा मतलब उनके 'अभिव्यक्त' पक्ष से है। स्वभावतया, उच्चतर दृष्टिकोण से, सार-तत्त्व के दृष्टिकोण से—उस वस्तु का सार-तत्त्व जो 'अभिव्यक्ति' में 'अतिमानसिक' बन जाती है—भगवान् के साथ पूर्ण तादात्म्य स्थापित करने की योग्यता भी होनी चाहिये, उनके 'अभिव्यक्त' पक्ष में ही नहीं, बल्कि उनके स्थिर अथवा निर्वाण-सम्बन्धी पक्ष में भी जो 'अभिव्यक्ति' से परे है और 'असत्' है। किन्तु इसके अतिरिक्त

व्यक्ति में भगवान् के 'सम्भवन' (बिकमिंग) के साथ ही तादात्म्य स्थापित करने की योग्यता भी होनी चाहिये। इसका अभिप्राय दो वस्तुओं से है : पहली—विस्तार, कम-से-कम एक असीम प्रकार का विस्तार; दूसरी—जैसा कि मैं पहले भी कह चुकी हूं, इसके साथ ही एक पूर्ण सर्वांगीण नमनीयता ताकि भगवान् के 'सम्भवन' में भी उनका अनुसरण किया जा सके। किसी विशेष समय में ही व्यक्ति को विश्व जितना विस्तृत नहीं होना है बल्कि उनके 'सम्भवन' में भी उसे अनिश्चित रूप से विशाल बनना है। यही दो शर्तें हैं; इन्हें सम्भावित रूप में अवश्य होना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. १२६-२७

पूर्ण सन्तुलन की आवश्यकता तथा समर्पण

... ऐसा प्रतीत होता है कि (अतिमानसिक अभिव्यक्ति का) सबसे सुनिश्चित और स्पष्ट पहलू और वह एक जो सम्भवतः सबसे पहले प्रकाश में आयेगा—सम्भवतः—वह 'आनन्द' और 'सत्य' की अपेक्षा 'शक्ति' का पहलू अधिक होगा। क्योंकि नयी जाति के पृथ्वी पर स्थापित हो सकने और जीवित रह सकने के लिए यह जरूरी होगा कि पृथ्वी के अन्य तत्त्वों से उसकी रक्षा की जाये, और शक्ति ही सुरक्षा है—कृत्रिम, बाह्य और झूठी शक्ति नहीं, बल्कि सच्चा 'बल', जयशाली 'संकल्प'। तो यह मानना असम्भव नहीं है कि अतिमानसिक क्रिया सामञ्जस्य, ज्योति, आनन्द और सौन्दर्य की क्रिया होने से भी पहले शक्ति की एक क्रिया होगी ताकि वह सुरक्षा का काम कर सके। स्वाभाविक है कि शक्ति की इस क्रिया को सचमुच प्रभावकारी हो सकने के लिए 'ज्ञान', 'सत्य', 'प्रेम' और 'सामञ्जस्य' पर आधारित होना चाहिये; परन्तु ये चीजें भी तभी अभिव्यक्त हो सकेंगी—दृश्य रूप में, थोड़ी-थोड़ी करके अभिव्यक्त होंगी—जब, यूं कहा जा सकता है, कि आधार सर्वसमर्थ 'संकल्प' एवं 'शक्ति' की क्रिया द्वारा तैयार हो चुकेगा।

परन्तु न्यूनतम रूप में भी इनमें से किसी चीज के सम्भव हो सकने के लिए सबसे पहले **पूर्ण** सन्तुलन का एक आधार होना जरूरी है, ऐसा सन्तुलन जो अहं के पूर्ण विलोप, परम पुरुष के प्रति पूर्ण समर्पण तथा पूर्ण पवित्रता की, अर्थात् परम पुरुष के साथ स्थापित तादात्म्य की देन है। इस पूर्ण सन्तुलन के आधार के बिना अतिमानसिक शक्ति बहुत खतरनाक

होती है, तुम्हें **किसी भी सूरत** में उसे खोजना या अपनी ओर खींचना नहीं चाहिये, क्योंकि उसकी अत्यल्प मात्रा भी इतनी शक्तिशाली एवं भीषण होती है कि वह पूरी सत्ता के सन्तुलन को बिगाड़ सकती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २६९-७०

परिस्थितियों की अपेक्षा सच्चा मनोभाव अत्यन्त आवश्यक है

निश्चय ही, जब मनुष्य औरों में पूर्णता पाने के लिए प्रतीक्षा करना छोड़ कर स्वभावतः अपने-आपको पूर्ण करने की ओर मुड़ेगा तो यह एक बड़ा कदम होगा...। यह उलटाव समस्त सच्ची प्रगति का मूल आधार है। पहली मानव सहज वृत्ति होती है : "यह परिस्थितियों का दोष है, व्यक्तियों का दोष है, दोष... वह ऐसा है, यह वैसा है, दूसरा ऐसा..." और यह बात अनन्त काल तक चलती रहती है। **पहला कदम**, सबसे पहला कदम है यह कहना : "अगर मैं वैसा होऊं जैसा मुझे होना चाहिये या यह शरीर ऐसा हो जैसा इसे होना चाहिये, तो इसके लिए सब कुछ ठीक हो जायेगा।" अगर प्रगति करने के लिए तुम दूसरों के प्रगति करने की प्रतीक्षा करोगे तो तुम्हें अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करनी होगी। यह पहली बात है जिसे सब जगह प्रचारित कर देना चाहिये। कभी दूसरों को या परिस्थितियों को दोष न दो, क्योंकि परिस्थितियां चाहे जैसी भी हों, चाहे बुरी-से-बुरी दीखने वाली परिस्थितियां हों, अगर तुम उचित मनोभाव रखो, अगर तुम्हारे अन्दर सच्ची चेतना हो तो तुम्हारी आन्तरिक प्रगति के लिए उनका कोई महत्त्व न होगा, कोई महत्त्व न होगा—मैं यह कहती हूं और इसमें मृत्यु को भी गिन लेती हूं।

वास्तव में, यह सीखने के लिए पहला पाठ मालूम होता है।

श्रीअरविन्द ने लिखा है (मैं भावानुवाद करती हूं) कि पाप की धारणा प्रगति को तेज करने के लिए लायी गयी थी और तुरन्त *(श्रीमां हंसती हैं)* मनुष्य ने और सबके अन्दर पाप देखा—लेकिन स्वयं अपने अन्दर कभी नहीं देखा।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २२१-२२

सच्चा मनोभाव सब कुछ बदल देता है

यह इस हद तक होता है कि अमुक स्पन्दनों के प्रति तुम्हारी वृत्ति पूर्ण

विश्राम ला सकती है या तुम्हें पूरी तरह बीमार कर सकती है! जब कि स्पन्दन एक ही होगा। ऐसी चीजें, चकराने वाली चीजें होती हैं। और हर क्षण ऐसा होता है—हर क्षण, हर चीज के लिए।

हां, तो चेतना यहां एक विशेष मोड़ लेती है और फिर सब कुछ आनन्दमय और सामञ्जस्यपूर्ण हो जाता है; और चीज वही बनी रहती है, लेकिन तब *(माताजी सिर को जरा बायीं ओर झुकाती हैं)*, चेतना की वृत्ति में जरा-सा हेर-फेर, और चीज लगभग असह्य हो उठती है! सारे समय, सारे समय इस तरह की अनुभूतियां... बस, यह दिखाने के लिए कि केवल **एक ही चीज** है जिसका महत्त्व है, वह है चेतना की वृत्ति : व्यक्तिगत सत्ता की पुरानी वृत्ति *(संकुचन का संकेत)* या वह *(विस्तार का संकेत)*। यह (हमारी समझ में आने वाले शब्दों में कहें तो) अहं की उपस्थिति और अहं का लोप होगा। यही है। और फिर, जैसा कि मैंने कहा है, जीवन की सभी क्रियाओं के लिए, बिलकुल मामूली बातों तक के लिए यह दिखाया जाता है कि अगर अहं की उपस्थिति को रहने दिया जाये (यह निश्चय ही तुम्हें समझाने के लिए है कि यह है क्या), तो यह सचमुच स्वास्थ्य के असन्तुलन की ओर ले जा सकता है, कि एकमात्र उपाय है अहं का लोप—साथ-ही-साथ समस्त बीमारी का लोप। क्योंकि हम जिन चीजों को बिलकुल नगण्य समझते हैं, बिलकुल...। और यह बात हर चीज, हर एक, हर एक चीज के लिए है, सारे समय, सारे समय, रात-दिन।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २३३-३४

बड़ी कठिनाई है निराशावाद

हमें टिके रहना चाहिये—पकड़े रखना, सबसे बढ़ कर यही लगता है कि हमारे अन्दर सहनशक्ति होनी चाहिये। ये दो चीजें एकदम अनिवार्य हैं : सहनशक्ति और एक ऐसी श्रद्धा जिसे कोई भी चीज डिगा न सके, सम्पूर्ण प्रतीत होने वाला निषेध भी नहीं, चाहे तुम्हें बहुत सहना पड़े, चाहे तुम दयनीय दशा में क्यों न होओ (मेरा मतलब है शारीरिक दृष्टि से), चाहे तुम थक जाओ—फिर भी टिके रहो। पकड़े रखो और टिके रहो—सहनशक्ति होनी चाहिये। बस, यही बात है। ...सबसे बढ़ कर, भरोसा रखना। 'जड़-द्रव्य' में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि भौतिक चेतना (यानी, 'जड़-द्रव्य'

में स्थित मन) कठिनाइयों के—कठिनाइयों, रुकावटों, पीड़ाओं, संघर्षों के —दबाव से बनी है। कहा जा सकता है कि इन्हीं चीजों ने उसे "रूप दिया है" और उस पर लगभग निराशा की, पराजयवाद की छाप लगा दी है और निश्चय ही यह सबसे बड़ी रुकावट है।

मैं अपने काम में इसी के बारे में सचेतन हूं। सबसे अधिक भौतिक चेतना, सबसे अधिक भौतिक मन हमेशा मार खाकर काम करने का, प्रयास करने का, आगे बढ़ने का अभ्यस्त है; अन्यथा यह तमस् में बना रहता है। और फिर यह जहां तक कल्पना कर सकता है, यह हमेशा कठिनाइयों की ही कल्पना करता है—हमेशा रुकावट या हमेशा विरोध की कल्पना—और इससे गति भयंकर रूप से धीमी पड़ जाती है। उसे यह विश्वास दिलाने के लिए कि उसकी सब कठिनाइयों के पीछे 'कृपा' है, सब असफलताओं के पीछे 'विजय' है, उसके सभी दुःखों, कष्टों और विरोधों के पीछे 'आनन्द' है, उसे बहुत ठोस, गोचर और **बार-बार दोहरायी जाने वाली** अनुभूतियों की जरूरत होती है। सभी प्रयासों में इसी एक प्रयास को बार-बार दोहराने की जरूरत होती है; हमेशा तुम्हें निराशावाद को रोकने की, सन्देह को दूर हटाने की या पूर्ण रूप से पराजयवादी की कल्पना को बदलने की जरूरत होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. १-२

निराशावाद शैतान का अस्त्र है

जो कुछ तुम्हारे अन्दर भगवान् को नहीं चाहता वह जान-बूझ कर ऐसा वातावरण तैयार करता है ताकि उन लोगों का उत्साह भंग करे जो भगवान् को चाहते हैं। तुम्हें जरा भी... जरा भी ध्यान न देना चाहिये। यह शैतान का तरीका है। निराशावाद शैतान का अस्त्र है और वह अपनी स्थिति को भांप लेता है... *(हिलाने का संकेत)*। हां, तो मैं जिस सम्भावना को देख रही हूं, अगर वह सिद्ध हो जाये तो यह वास्तव में विरोधी शक्तियों पर एक निर्णायक विजय होगी—स्वभावतः, वह भरसक अपना बचाव करता है...। वह हमेशा शैतान होता है; जैसे ही तुम निराशावाद की पूंछ भी देखो तो समझ लो कि यह शैतान है।

यह उसका महान् अस्त्र है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २७४

व्यक्ति में धीरज होना चाहिये

मेरा ख्याल है कि प्रभाव के स्थायी होने के लिए—ऐसे चमत्कारिक प्रभाव के लिए नहीं जो आता है, आंखें चौंधिया देता है और चला जाता है—यह जरूरी है कि वह सचमुच **रूपान्तर** का प्रभाव हो। इसके लिए व्यक्ति में बहुत, बहुत धीरज होना चाहिये—यहां हमें एक ऐसी चेतना से पाला पड़ता है जो बहुत धीमी, बहुत भारी, बहुत आग्रही है, जो तेजी से आगे नहीं बढ़ सकती, जो अपनी हर चीज के साथ चिपक जाती है; उसे जो कुछ सत्य लगता है, चाहे वह एक बहुत ही छोटा-सा सत्य क्यों न हो, उसके साथ चिपक जाती है और आगे नहीं बढ़ना चाहती। इसे ठीक करने के लिए व्यक्ति में बहुत, बहुत धीरज होना चाहिये—बहुत धीरज। सबसे बड़ी बात है टिके रहना, डटे रहना, डटे रहना। श्रीअरविन्द ने यह बात बहुत बार कही है, अलग-अलग तरीकों से कही है : **"डटे रहो और विजय तुम्हारी होगी।... सहते चलो, सहते चलो, तुम पराजित कर सकोगे।"** सबसे अधिक सहनशील की ही विजय होती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ३-४

पूर्वकल्पित विचारों से चिपके न रहो

व्यक्ति अच्छे-से-अच्छा यही कर सकता है कि कोई पक्ष न ले, पहले से सोचे हुए विचार या सिद्धान्त न अपनाये—ओह! ये नैतिक सिद्धान्त, आचरण के बंधे-बंधाये नियम, व्यक्ति को क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये और नैतिक दृष्टि से पूर्वकल्पित विचार, प्रगति और सारी सामाजिक एवं मानसिक रूढ़ियों के अनुसार पूर्वकल्पित विचार... इनसे बुरी कोई और बाधा नहीं हो सकती। ऐसे लोग हैं, मैं ऐसे लोगों को जानती हूं जिन्होंने इन मानसिक रचनाओं में से **एक** पर विजय पाने के लिए दशाब्दियां नष्ट की हैं!... अगर कोई इस तरह रह सके, खुला—सरलता में सचमुच खुला रह सके, हां, एक ऐसी सरलता में जो जानती है कि वह अज्ञानी है—इस तरह *(ऊपर की ओर, आत्म-समर्पण का संकेत)*, जो कुछ आये उसे लेने के लिए तैयार रहे, तो कुछ हो सकता है। और स्वाभाविक है, यदि प्रगति की प्यास, ज्ञान की प्यास, अपने-आपको रूपान्तरित करने की प्यास और इन सबसे बढ़ कर दिव्य 'प्रेम' और 'सत्य' की प्यास हो

—अगर तुममें यह प्यास हो तो गति तेज होगी। सचमुच पिपासा हो, एक आवश्यकता हो, आवश्यकता।

बाकी सबका कोई महत्त्व नहीं है। व्यक्ति को आवश्यकता बस **इसी** की है। किसी ऐसी चीज के साथ चिपके रहना जिसे तुम समझते हो कि तुम जानते हो, किसी ऐसी चीज के साथ चिपके रहना जिसे तुम अनुभव करते हो, किसी ऐसी चीज के साथ चिपके रहना जिसे तुम प्यार करते हो, अपनी आदतों के साथ चिपके रहना, अपनी तथाकथित आवश्यकताओं के साथ चिपके रहना, इस संसार के साथ, जैसा कि वह है, चिपके रहना —ये ही चीजें हैं जो तुम्हें बांधती हैं। तुम्हें एक के बाद एक इन सब चीजों को खोलना होगा। सब गांठों को खोलना होगा। यह बात हजारों बार कही जा चुकी है, फिर भी लोग वही चीज किये जाते हैं...। ऐसे लोग भी जो बोलने में बहुत होशियार हैं और दूसरों को इस बात का उपदेश देते हैं, वे भी चिऽऽपऽऽके रहते हैं—वे अपने देखने के ढंग से, अपने अनुभव करने के ढंग से, अपनी प्रगति के अभ्यास से चिपके रहते हैं। उन्हें लगता है कि उनके लिए वही एकमात्र रास्ता है। बस, और बन्धन नहीं—स्वाधीन, स्वाधीन। हर समय केवल एक चीज को छोड़ कर सब कुछ बदलने के लिए तैयार रहना : वह चीज है अभीप्सा, यह प्यास।

उस "एक चीज" की प्यास

मैं भली-भांति समझती हूं, ऐसे लोग हैं जो एक "भगवान्" हैं इस विचार को ही पसन्द नहीं करते, क्योंकि यह तुरन्त यूरोपीय या पाश्चात्य धारणाओं के साथ मिल जाता है (जो अपने-आपमें भयंकर हैं), और इससे उनके जीवन में कुछ उलझनें आती हैं—लेकिन तुम्हें उसकी जरूरत नहीं है! तुम्हें उस "किसी चीज" की जरूरत है, तुम्हें 'प्रकाश' की जरूरत है, तुम्हें 'प्रेम' की जरूरत है, तुम्हें 'सत्य' की जरूरत है, तुम्हें चरम 'पूर्णता' की जरूरत है—और बस इतना ही। और सूत्र... सूत्र जितने कम हों उतना अच्छा। लेकिन वह चीज, वह आवश्यकता, जिसे **वह** 'वस्तु-विशेष' ही पूरा कर सकती है—उसके सिवा और कुछ नहीं, कोई अधकचरा उपाय नहीं, केवल वही। और फिर, तुम चल पड़ो! ...तुम्हारा मार्ग तुम्हारा मार्ग होगा, मार्ग का अपने-आपमें कोई महत्त्व नहीं है—वह कोई भी क्यों न हो; कोई

भी, आधुनिक अमरीकी युवाओं की उच्छृंखलता का मार्ग भी एक मार्ग हो सकता है, इसका कोई महत्त्व नहीं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ६-७

कठिनाइयों की बजाय 'कृपा' के बारे में सोचो

जो 'शक्ति' कार्य कर रही है वह जब अधिक शक्तिशाली, अधिक आग्रहशील होती है तो स्वभावतः ही जो शक्ति बाधा देती है वह भी उतने ही प्रबल रूप में विरोध करती है। और यदि—बस यहीं मुझे एक ऐसी बात कहनी पड़ेगी जो बहुत रुचिकर नहीं होगी—यदि अपनी जरा-सी कठिनाइयों, अपनी छोटी-छोटी असुविधाओं, अपनी तुच्छ बेचैनियों, अपने "बड़े-बड़े" दोषों के द्वारा सम्मोहित होने के बदले, यदि इन सारी चीजों से सम्मोहित होने के बदले, तुम दूसरे पक्ष को देखने की कोशिश करते, यह देखने की चेष्टा करते कि कहां तक अतिमानसिक शक्ति अधिक प्रबल, भागवत कृपा-शक्ति अधिक सक्रिय, दिव्य सहायता अधिक ठोस हो गयी है, एक शब्द में, यदि तुम थोड़ा कम अहम्मन्य होते और अपने-आप पर कम एकाग्र होते तथा तुम्हारी दर्शन-शक्ति थोड़ी अधिक विशाल होती जिसमें तुम उन वस्तुओं को भी सम्मिलित कर सकते जो व्यक्तिगत रूप में तुम्हारे साथ सम्बन्ध नहीं रखतीं, तो शायद इस समस्या के बारे में तुम्हारा दृष्टिकोण बदल जाता।

हां, तो बस यही चीज है जिसे करने का परामर्श मैं तुम्हें दे रही हूं, और फिर जब तुम मेरे बताये हुए उपाय के अनुसार कोशिश कर लोगे तब बाद में हम इस विषय पर चर्चा करेंगे। वह उपाय है : अपने विषय में इतना अधिक मत सोचो।

बस शायद यही है समस्या जिसमें तुम्हें बहुत अधिक दिलचस्पी है, परन्तु निश्चय ही, यही सबसे अधिक रोचक नहीं है!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २६५-६६

मुझे आंशिक रूप में पहले ही यह अनुभूति हो चुकी थी कि अगर हम आन्तरिक सामञ्जस्य की इस अवस्था में हों और एकाग्रता का कोई भी अंश शरीर की ओर मुड़ा न हो तो शरीर बिलकुल अच्छी तरह काम करता है। यह... "स्वकेन्द्रित" होना ही सब कुछ बिगाड़ देता है। और मैंने यह बहुत

बार देखा है, बहुत बार...। वास्तव में, व्यक्ति अपने-आपको बीमार **कर लेता है**। यह चेतना की संकीर्णता है, उसका विभाजन है। अगर तुम उसे क्रिया करने दो... हर जगह एक दिव्य 'चेतना' है, और एक दिव्य 'कृपा' है जो सब कुछ करती है ताकि सब ठीक चल सके। लेकिन इस मूर्खता के कारण ही सब कुछ बिगड़ जाता है—अजीब है यह! अहं-केन्द्रित मूढ़ता को ही श्रीअरविन्द "वह बूढ़ा आदमी" कहते हैं। यह सचमुच मजेदार है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २२०

अपने-आपको समर्पित कर दो और विश्वास शान्ति ले आयेगा

लेकिन महत्त्वपूर्ण चीज है भाव, परिणाम नहीं (मुझे विश्वास है कि ये असुविधाएं अनिवार्य नहीं हैं); महत्त्व है भाव का। हां, वह ऐसा होना चाहिये *(खुले हाथों की मुद्रा)*। वास्तव में मैंने देखा है कि अधिकतर उदाहरणों में भगवान् के प्रति समर्पण में यह जरूरी नहीं है कि उनमें विश्वास हो—क्योंकि तुम भगवान् के प्रति समर्पण करते हो, तुम कहते हो : "तुम भले मुझे कष्ट दो, मैं अपने-आपको समर्पित करता हूं।" लेकिन यह विश्वास का एकदम अभाव है! हां, वास्तव में यह बड़ी मजेदार बात है, समर्पण में ही विश्वास **नहीं** आ जाता; विश्वास कुछ और ही चीज है। वह एक प्रकार का... ज्ञान है—एक "अटल" ज्ञान जिसे कोई चीज नहीं हिला सकती—कि जो चीज... 'भागवत चेतना' में पूर्ण 'शान्ति' है उसे स्वयं **हम** कठिनाई, पीड़ा और दुःख-दैन्य में बदल देते हैं। हम स्वयं यह छोटा-सा रूपान्तर ले आते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ३०१-०२

शान्ति और स्थिरता का आवरण

सारी बात है डटे रहना। और डटे रहने के लिए मैंने बस एक ही उपाय पाया है; वह है 'शान्त-स्थिरता', आन्तरिक शान्त-स्थिरता—एक ऐसी शान्त-स्थिरता जिसका मतलब है... (कैसे कहा जाये?) जैसे-जैसे संघर्ष अधिक भौतिक होता जाये, वैसे-वैसे वह अधिक पूर्ण होती जाये। कुछ समय से (विशेषकर पहली जनवरी से), विरोधी शक्तियों की ओर से एक प्रकार की बमबारी हो रही है—एक प्रकोप है, समझे? अतः हमें ऐसे डटे रहना चाहिये *(माताजी मूर्तिवत् स्थिर हो जाती हैं)*, बस, यही। और

जब तुम्हें भौतिक रूप से बहुत जोर का धक्का लगे तो तुम्हें अपने शरीर से बहुत अधिक मांग नहीं करनी चाहिये, उसे बहुत-सी शान्ति, बहुत-सा आराम देना चाहिये।...

... यही चीज उन सबमें हो रही है जो काम कर रहे हैं, यही कठिनाई है। इसीलिए मैं तुमसे कहती हूं : "इसकी परवाह मत करो, अगर तुम अपने शरीर के साथ व्यस्त रहते हो तो चिन्ता की कोई बात नहीं है : **उससे लाभ उठाने की** कोशिश करो—उस व्यस्तता से लाभ उठाने की कोशिश करो—इसमें 'शान्ति', 'शान्ति' लाओ।" मैं तुम्हें मानों हमेशा 'शान्ति' के आवरण में लपेटे रहती हूं। और फिर, अगर तुम इस स्पन्दित होने वाले मन में, जो हमेशा हिलता रहता है, जो सचमुच बन्दर की तरह विचलित होता रहता है, अगर तुम उसके ऊपर... इस 'शान्ति' को प्रतिष्ठित कर सको—जो **सीधी** इन भौतिक स्पन्दनों पर कार्य करती है—एक ऐसी 'शान्ति' जिसमें हर चीज विश्राम करती है।

यह मत सोचो—भौतिक मन को रूपान्तरित करने के प्रयास के बारे में, उसे चुप करने या उखाड़ फेंकने के बारे में मत सोचो; यह सब फिर भी क्रियाशीलता है। बस, चुपचाप उसे चलते रहने दो, लेकिन... 'शान्ति' रखो, 'शान्ति' का अनुभव करो, 'शान्ति' को ही जियो, 'शान्ति' को जानो —'शान्ति', 'शान्ति'।

यही एकमात्र चीज है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ८-९

हमें अद्‌भुत अवसर प्राप्त हुआ है

निश्चय ही इस सहयोग के आधार में परिवर्तन का संकल्प होना चाहिये, यह संकल्प कि हम जैसे हैं वैसे ही न बने रहें और यह कि वस्तुएं जैसी हैं वैसी ही न बनी रहें। इसे करने के कई तरीके हैं। और जब वे सफल हो जाती हैं तो सभी पद्धतियां अच्छी होती हैं! कोई व्यक्ति इस वर्तमान स्थिति से बहुत गहराई से विरक्त होकर उससे बाहर आने और किसी अन्य वस्तु को पाने की तीव्र चाह अनुभव कर सकता है। कोई दूसरा ऐसा अनुभव कर सकता है—और यह अधिक सकारात्मक पद्धति है—वह अपने अन्दर सुनिश्चित रूप से किसी सुन्दर और सत्य वस्तु का संस्पर्श एवं सान्निध्य

पाकर स्वेच्छा से शेष सबको छोड़ने के लिए तैयार हो सकता है ताकि इस नये सौन्दर्य और सत्य की ओर प्रयाण में कोई चीज भार न बने।

प्रत्येक दशा में जो चीज अनिवार्य है वह है प्रगति के लिए एक उत्कट संकल्प और अग्रगति को अटकाने वाली सभी चीजों का स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक त्याग : आगे बढ़ने से जो कुछ रोकता हो उसे अपने से परे फेंक दो और अज्ञात की ओर इस प्रज्वलित विश्वास के साथ कूच करो कि यही कल का सत्य है, यह **अवश्यम्भावी** है, अवश्य प्रकट होगा, कोई चीज, कोई व्यक्ति, कोई असद्भावना, यहां तक कि 'प्रकृति' भी, इसे वास्तविक रूप लेने से नहीं रोक सकती—शायद यह सुदूर भविष्य की चीज नहीं है—यह एक वास्तविकता है जो इस क्षण भी क्रियान्वित की जा रही है। और जो परिवर्तित होना तथा पुरानी आदतों से अपने को बोझिल न होने देना जानते हैं वे **निश्चय** ही उसे न केवल देखने का, बल्कि जीवन में चरितार्थ करने का सौभाग्य भी प्राप्त करेंगे।

लोग सो जाते हैं, भूल जाते हैं, जीवन को हलके रूप में लेते हैं—वे भूले रहते हैं, सारे समय भूले रहते हैं...। परन्तु यदि तुम यह याद रख सको... कि हम एक विशेष घड़ी में, एक **अनुपम काल** में उपस्थित हैं, और यह कि नये जगत् के प्रादुर्भाव के समय उपस्थित होने का एक बहुत बड़ा सौभाग्य, एक बहुमूल्य अवसर हमें प्राप्त हुआ है तो तुम उस सबसे आसानी से छुटकारा पा सकते हो जो बाधा पहुंचाता और प्रगति को अटकाता है।

तो जो चीज सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है वह है इस तथ्य को याद रखना; इसकी ठोस अनुभूति न होने पर भी इसमें निश्चयता और विश्वास बनाये रखना; सदा याद रखना, बार-बार उस स्मृति को वापस बुला लाना, इसी विचार के साथ सोना, इसी भावना के साथ उठना; जो कुछ भी करना सब इसी महान् सत्य को, एक सतत अवलम्ब, एक सतत सहारे के रूप में, पृष्ठभूमि में रखते हुए करना कि हम एक नये जगत् के प्रादुर्भाव की वेला में उपस्थित हैं।

हम इसमें भाग ले सकते हैं, हम यह नया जगत् बन सकते हैं। और सचमुच, जब तुम्हें इतना अद्भुत अवसर प्राप्त हुआ है तो इसके लिए सब कुछ छोड़ने को तत्पर होना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. १७६-७७

आवश्यकता है सतत अभीप्सा और विस्तार की

... अपने अन्दर अतिमानसिक सत्ता को ग्रहण करने, व्यवहृत करने और गठित करने की, और फलतः एक अतिमानसिक जगत् की रचना करने की आशा करने के लिए, सर्वप्रथम, आवश्यकता यह है कि अपनी चेतना को विस्तारित किया जाये, और **सतत** व्यक्तिगत प्रगति की जाये : ऐसा नहीं कि हठात् उड़ानें ली जायें, थोड़ी अभीप्सा हो, थोड़ा-सा प्रयास हो, और फिर से निद्रा में डुबकी लगा ली। बस, यही सत्ता की **सतत** भावना, सत्ता का **सतत** संकल्प, सत्ता का **सतत** प्रयास, सत्ता का **सतत** सर्वोपरि कार्य होना चाहिये।

यदि तुम दिन में पांच मिनट यह याद रखो कि अतिमानसिक शक्ति नाम की कोई चीज विश्व में है और, अन्ततः, "वह यदि मेरे अन्दर अभिव्यक्त हो तो अच्छा होगा", लेकिन बाकी सारे समय तुम अन्य किसी वस्तु की बात सोचो और अन्य कार्यों में व्यस्त रहो तो इस बात की अधिक सम्भावना नहीं कि वह अतिमानसिक शक्ति आयेगी और तुम्हारे अन्दर गम्भीरतापूर्वक कोई कार्य करेगी। श्रीअरविन्द यह बात बिलकुल स्पष्ट और सुनिश्चित रूप से कहते हैं। वे तुमसे यह नहीं कहते कि वास्तव में **तुम्हीं** यह कार्य करोगे, वे कहते हैं कि कार्य भागवत संकल्प करेगा। अतएव तुम आकर यह न कहो : "आह! मैं, मैं नहीं कर सकता।" तुमसे उसे करने के लिए नहीं कहा जा रहा। परन्तु यह आवश्यक है कि तुम्हारी सत्ता में पर्याप्त रूप में एक अभीप्सा और एक लगन हो ताकि सत्ता का प्रसारण, चेतना का प्रसारण सम्भव हो सके। कारण, सच पूछो तो, प्रत्येक व्यक्ति छोटा, छोटा, छोटा, इतना छोटा है कि वहां अतिमानस को प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त स्थान है ही नहीं! वह इतना तंग है कि पहले से ही वह समस्त तुच्छ सामान्य मानवीय क्रियाओं से पूरी तरह भरा रहता है। अतिमानस की क्रियाओं के लिए स्थान बनाने के लिए उसे बहुत अधिक विस्तारित करना होगा।

फिर प्रगति के लिए अभीप्सा भी अवश्य होनी चाहिये : जो कुछ हम हैं, जैसे हम हैं, जो कुछ हम करते हैं, जो कुछ हम जानते या समझते हैं कि हम जानते हैं, हमें उससे सन्तुष्ट नहीं होना चाहिये; बल्कि कुछ अधिक के लिए, किसी अधिक अच्छी वस्तु के लिए, एक महत्तर ज्योति, एक

विशालतर चेतना, एक सत्यतर सत्य और एक अधिक विश्वव्यापक शुभ के लिए सतत अभीप्सा रखनी चाहिये। और इस सबके साथ-ही-साथ एक शुभेच्छा होनी चाहिये जो कभी कम नहीं होती।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ८, पृ. २४६-४७

जीतने का संकल्प

मुझे लगता है कि हमें बच्चों में ही ऐसे लोग मिलेंगे जो नयी जाति का आरम्भ कर सकते हैं। पुरुषों पर तो... पपड़ी चढ़ गयी है। मैं सदा ऐसे लोगों के विरुद्ध संघर्ष में लगी रहती हूं जो यहां आराम से रहने के लिए आये हैं ताकि "जो मरजी कर सकें"... तो... मैं उनसे कहती हूं : "संसार काफी बड़ा है, तुम बाहर जा सकते हो"—वहां न अन्तरात्मा होती है, न अभीप्सा, कुछ भी नहीं। तुम मेरी भावना जानते हो? वे सब बूढ़े हैं। सिर्फ मैं ही युवा हूं! हां, यह वही है, वह लौ, वह इच्छा... वह जिसे वे "उत्साह" कहते हैं—छोटी-मोटी व्यक्तिगत तुष्टियों से सन्तुष्ट रहें... जो तुम्हें कहीं नहीं पहुंचातीं और इसी में लगे रहें कि वे क्या खायेंगे, ओह!...

मुझे लगता है कि अब एक प्रकार का "प्रदर्शन" है (जानते हो प्रदर्शन क्या होता है?), उन सब चीजों का प्रदर्शन जो नहीं होनी चाहियें। लेकिन ज्वाला, अभीप्सा की ज्वाला *(माताजी सिर हिलाती हैं)*, ऐसे बहुत नहीं हैं जो इसे लेकर आते हों। शर्त बस यही है कि वे जिसे "आराम" कहते हैं उस तरह आराम से रह सकें—और कुछ ऐसी मूर्खताएं कर सकें जिन्हें वे संसार में नहीं कर सकते!... दूसरी ओर, ऐसा लगता है कि आगमन को जल्दी लाने के लिए—उसे जल्दी **लाया जा सकता है** अगर हम... अगर हम विजेता हों!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २६९

खींचने की बजाय अपने-आपको दे दो

इस बारे में जब मैं तुमसे बात कर ही रही हूं तो मैं तुम्हें एक चीज की सलाह देना चाहती हूं। अपनी प्रगति की इच्छा तथा उपलब्धि की अभीप्सा में इस बात का विशेष ध्यान रखो कि कभी शक्तियों को अपनी ओर खींचो मत। अपने-आपको दे दो, निरन्तर आत्म-विस्मृति द्वारा जितनी निःस्वार्थता

तुम प्राप्त कर सकते हो उतने निःस्वार्थ-भाव से अपने-आपको खोलो, अपनी ग्रहणशीलता को जितना अधिक हो सके बढ़ाओ, परन्तु 'शक्ति' को अपनी ओर खींचने की **कभी** कोशिश **मत** करो, क्योंकि खींचने की इच्छा करना ही एक खतरनाक अहंकार है। तुम अभीप्सा कर सकते हो, अपने-आपको खोल सकते हो, अपने-आपको दे सकते हो, पर लेने की इच्छा कभी मत करो। जब कुछ बिगड़ जाता है तो लोग 'शक्ति' को दोष देते हैं, पर इसके लिए उत्तरदायी 'शक्ति' नहीं है; यह पात्र की महत्त्वाकांक्षा, अहंकार, अज्ञान और दुर्बलता है जो उत्तरदायी है।

उदारता एवं पूर्ण निःस्वार्थता के साथ अपने-आपको दे दो और अधिक गहरे अर्थों में तुम्हारे साथ कभी कुछ बुरा नहीं होगा। लेने की कोशिश करोगे तो तुम खाई के मुंह पर होओगे।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ९, पृ. २७०

आत्म-समर्पण : दमन के बिना उपचार

अब मैं यह जानना चाहूंगा कि दमन के बिना उपचार की चाबी क्या है? क्योंकि यथार्थतः 'प्रकाश' डाला जाता है, लेकिन इससे गलत गति नीचे चली जाती है।

हां, यह सामान्य नियम है। इससे उलटी चीज करनी चाहिये : उसे भूमिगत करने की जगह निवेदित कर देना चाहिये। उस चीज को, उस गति को प्रकाश के सामने **प्रक्षिप्त** करना चाहिये...। साधारणतः वह छटपटाती और इन्कार करती है! लेकिन *(श्रीमां हंसती हैं)* यही एकमात्र उपाय है। इसीलिए यह 'चेतना' इतनी मूल्यवान् है...। हां, जो चीज दमन को लाती है वह है भले-बुरे की धारणा, जो बुरा समझा जाता है उसके लिए एक तरह का तिरस्कार या लज्जा, और तब तुम यूं करते हो *(पीछे हटने की मुद्रा)*, तुम उसे देखना नहीं चाहते, तुम उसे वहां रहते देखना नहीं चाहते। होना यह चाहिये... पहली चीज—सबसे पहली चीज जो हमें जाननी चाहिये वह यह है कि यह हमारी चेतना की दुर्बलता है जो यह विभाजन करती है। एक और 'चेतना' है, (अब मुझे इसका विश्वास है) जिसमें यह भेद नहीं है, जिसमें, जिसे हम "अशुभ" कहते हैं, वह भी उतना ही जरूरी है जितना

वह, जिसे हम "शुभ" कहते हैं। अगर हम अपने संवेदन को प्रक्षिप्त कर सकें—या अपनी क्रिया को या अपने बोध को—उस 'प्रकाश' में प्रक्षिप्त कर सकें तो उससे उपचार मिल जायेगा। उसे नष्ट करने-लायक चीज समझ कर उसका दमन करने या त्याग करने की जगह (उसे नष्ट नहीं किया जा सकता!), उसे 'प्रकाश' में प्रक्षिप्त करना चाहिये। इसके कारण मुझे कई दिनों तक एक बड़ी मजेदार अनुभूति होती रही : अमुक चीजों को (जिन्हें तुम स्वीकार नहीं करते और जो सत्ता में असन्तुलन पैदा करती हैं), उन्हें अपने से दूर फेंकने की कोशिश करने की जगह, उन्हें स्वीकार कर लो, अपने अंश के रूप में स्वीकार कर लो... *(माताजी अपने हाथ फैलाती हैं)* और उन्हें निवेदित कर दो। वे निवेदित होना नहीं चाहतीं, लेकिन उन्हें बाधित करने का एक तरीका है : हम जिस अनुपात में अपने अन्दर से अस्वीकृति की भावना को कम कर सकेंगे उसी अनुपात में उनका प्रतिरोध घटता जायेगा। अगर हम इस अस्वीकृति के भाव की जगह उच्चतर समझ को ला सकें तो हमें सफलता मिलती है। यह कहीं ज्यादा आसान है।

मेरा ख्याल है कि वह यही है। वे सब गतियां, सभी, जो तुम्हें नीचे की ओर घसीटती हैं उन सबका उच्चतर प्रज्ञा के साथ सम्पर्क करवाना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २२४-२६

पुण्य-भावना की समस्या

पुण्य-भावना हमेशा जीवन में उन वस्तुओं को दबा रखने में व्यस्त रहती है जो उसे जीवन में बुरी लगती हैं और संसार के विभिन्न देशों के सभी पुण्यों को यदि एक साथ एकत्र कर दिया जाये तो जीवन में बहुत थोड़ी-सी चीजें ही बच रहेंगी।

पुण्य-भावना पूर्णता की खोज करने का दावा करती है, परन्तु पूर्णता का अर्थ है एक समग्रता। अतएव ये दोनों बातें एक-दूसरे को काटती हैं। पुण्य-भावना बहिष्कार करती है, कम करती है, सीमाएं बांधती है और पूर्णता प्रत्येक चीज को स्वीकार करती है, किसी चीज का परित्याग नहीं करती, बल्कि प्रत्येक चीज को उसके ठीक स्थान में रखती है—ये दोनों (पुण्य-भावना और पूर्णता) स्वाभाविक है कि एक-दूसरे को ठीक-ठीक

समझ नहीं सकतीं।

जीवन को गम्भीरतापूर्वक लेने का साधारणतया अर्थ है दो बातें करना : पहली, उन चीजों को महत्त्व देना जो शायद कोई महत्त्व नहीं रखतीं; दूसरी, जीवन को उन थोड़े-से गुणों में सीमित कर देना जो पवित्र और जीवन के लिए उपयोगी समझे जाते हैं। कुछ लोगों में—उदाहरणार्थ, उन लोगों में जिनके विषय में यहां श्रीअरविन्द कह रहे हैं, अर्थात्, "कट्टर" और अतिनैतिक लोगों में—यह पुण्य-भावना बड़ी रूखी-सूखी, नीरस, भद्दी और आक्रामक बन जाती है और उन्हें हर जगह, प्रत्येक हर्षयुक्त, स्वाधीन और सुखमय वस्तु में दोष-ही-दोष दिखायी देते हैं।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. १८२-८३

जीवन को पूर्ण बनाने का एकमात्र पथ

जीवन को पूर्ण बनाने का—मेरा मतलब यहां, अर्थात् पृथ्वी पर के जीवन को पूर्ण बनाने का—एकमात्र पथ है उसकी ओर काफी ऊंचाई पर से देखना ताकि तुम उसे सम्पूर्ण रूप में देख सको, केवल उसके वर्तमान पूर्ण रूप को ही नहीं, बल्कि उसके भूत, वर्तमान और भविष्य के सम्पूर्ण रूप को भी देख सको : यह जो कुछ पहले था, जो कुछ अब है और जो कुछ आगे होगा—हमें यह सब एक साथ देखने में समर्थ होना चाहिये। क्योंकि एकमात्र यही तरीका है जिससे हम प्रत्येक चीज को उसके ठीक-ठीक स्थान में रख सकते हैं। उस समय कोई भी चीज हटायी नहीं जा सकती, कोई भी चीज नहीं हटानी **चाहिये**, बल्कि प्रत्येक चीज अपने उचित स्थान में होनी चाहिये और बाकी के साथ उसका पूर्ण सामञ्जस्य बना रहना चाहिये। और उस समय वे सब चीजें जो कट्टर धार्मिक व्यक्ति को इतनी 'बुरी', इतनी 'तिरस्कार-योग्य', इतनी 'अग्राह्य' प्रतीत होती हैं वे सब एक पूर्णतः दिव्य जीवन के आनन्द और स्वातन्त्र्य के कार्य बन जाती हैं। और तब कोई भी चीज परमात्मा के इस अद्‌भुत हास्य को जानने, समझने, अनुभव करने और जीवन में उतारने से हमें रोक नहीं सकेगी—उस परमात्मा के हास्य को जो स्वयं अपनी ही ओर अनन्त भाव से देखने में असीम आनन्द अनुभव करते हैं। यह आनन्द, यह अद्‌भुत हास्य ही है जो समस्त अन्धकार, समस्त दुःख-दर्द और समस्त सन्ताप को विलीन कर देता है! इस आन्तर

सूर्य को पाने के लिए तथा उसकी किरणों में स्नान करने के लिए स्वयं अपने अन्दर पर्याप्त गहराई तक प्रवेश करना काफी है और तब सब कुछ सुसमञ्जस, ज्योतिर्मय, सूर्यमय हास्य का झरना बन जाता है, जिसमें कहीं भी कोई छाया या दुःख नहीं रह सकता। यदि तुम उस स्थान से देख सकने में, वहां रहने में समर्थ हो सको तो वास्तव में बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयों, दुःख-कष्टों और शारीरिक वेदनाओं की भी असत्यता को देख सकोगे—तब तुम्हारे लिए कठिनाई, दुःख-कष्ट और वेदना नाम की कोई चीज नहीं रह जायेगी—प्रत्येक चीज ही एक हर्षमय और ज्योतिपूर्ण प्रकम्पन का रूप ले लेगी। वास्तव में यही अत्यन्त शक्तिशाली साधन है जिससे कठिनाइयों को विलीन किया जा सकता, दुःख-कष्टों को जीता जा सकता और वेदनाओं को दूर किया जा सकता है। इनमें पहले दो अपेक्षाकृत—मैं अपेक्षाकृत कह रही हूं—आसान हैं, अन्तिम चीज कुछ अधिक कठिन है, क्योंकि लोगों को शरीर और वह जो कुछ अनुभव करता है उस सबको अत्यन्त ठोस, सुनिश्चित समझने का अभ्यास पड़ गया है। परन्तु यह भी वैसी ही चीज है; हमने अपने शरीर को एक तरल, नमनीय, अनिश्चित, लचीली वस्तु के रूप में देखना न सीखा है, न इसका अभ्यास ही किया है। हमने इसके अन्दर इस ज्योतिर्मय हास्य को प्रविष्ट करने की विधि नहीं सीखी है जो समस्त अन्धकार, समस्त कठिनाई, समस्त असंगति, समस्त असामञ्जस्य को, जो कुछ कराहता, रोता और विलाप करता है उस सबको विलीन कर देता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. १८३-८४

व्यक्ति को हमेशा हंसना चाहिये

मैंने देखा है कि अगर मैं प्रतिरोध करूं तो चीज बिगड़ जाती है। अगर मेरे अन्दर तरलता का भाव हो तो टक्करें नहीं लगतीं। यह वही बात है जो इस खरोंच के बारे में है *(माताजी अपनी कोहनी दिखाती हैं)*। अगर तुम कड़े हो जाओ और चीजें प्रतिरोध करें तो तुम्हें चोट लगती है। यह ऐसी ही बात है : जैसे जो लोग कूदना जानते हैं वे गिरते हैं, और उनका कुछ भी नहीं टूटता; जब कि जो लोग गिरना नहीं जानते, वे जरा-सा गिरते ही कुछ तुड़ा बैठते हैं। यहां वही बात है। तुम्हें सीखना पड़ता है कि कैसे

होना चाहिये... पूर्ण ऐक्य। ठीक करना, सीधा करना भी प्रतिरोध है। तो तुम जिसे आक्रमण कहते हो वह जारी रहे तो क्या होगा? बात मजेदार होगी, देखें! *(माताजी हंसती हैं)*, चूंकि दूसरे लोग उसी स्थिति में नहीं हैं, इसलिए वे शायद तंग आ जायेंगे, परन्तु मैं असहाय हूं! *(माताजी हंसती हैं)*। व्यक्ति को हमेशा हंसना चाहिये, हमेशा। 'प्रभु' हंसते हैं और हंसते रहते हैं। 'उनका' हास्य इतना अच्छा है, इतना अच्छा है, प्रेम से इतना परिपूर्ण है। यह ऐसा हास्य है जो तुम्हें असाधारण मधुरता के साथ अपनी भुजाओं में भर लेता है! मनुष्यों ने उसे भी विकृत कर दिया है—उन्होंने हर चीज विकृत कर दी है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ५८

'दिव्य' हास्य का सूर्य

... यह दिव्य हास्य का सूर्य प्रत्येक वस्तु के एकदम केन्द्र में विद्यमान है, प्रत्येक वस्तु का सत्य है—आवश्यकता बस यही है कि हम उसे देखना, अनुभव करना और जीवन में उतारना सीखें।

और इसके लिए हमें उन लोगों से दूर रहना चाहिये जो जीवन को अत्यन्त गम्भीर रूप में लेते हैं, वे ऐसे लोग हैं जिनसे मनुष्य ऊब उठता है। जब कभी वातावरण गम्भीर हो उठे तो तुम कह सकते हो कि कहीं कोई चीज ठीक नहीं है, कोई हानिकारक प्रभाव, कोई पुरानी आदत भीतर घुसने का प्रयास कर रही है जिसे कभी स्वीकारना नहीं चाहिये।

यह सब पश्चात्ताप, यह सब सन्ताप, अयोग्यता की भावना, अपराध की भावना और फिर एक पग और आगे, पाप की भावना—ओह! यह सब... मुझे लगता है कि ये सब एक दूसरे युग, अन्धकार के युग की चीजें हैं।

परन्तु ये सब चीजें जो बनी हुई हैं, जो चिपकी रहने और बनी रहने की चेष्टा करती हैं, ये सब निषेध और जीवन को दो भागों में—छोटा और बड़ा, पवित्र और अपवित्र—बांट देने का यह तरीका! जो लोग यह घोषणा करते हैं कि वे आध्यात्मिक जीवन का अनुसरण करते हैं, वे कहते हैं: "यह कैसी बात है! तुम भला ऐसी तुच्छ चीजों को, जिनका इतना कम महत्त्व है, आध्यात्मिक अनुभव का विषय कैसे बना सकते हो?" और फिर भी यह एक ऐसा अनुभव है जो अधिकाधिक ठोस और वास्तविक होता

जाता है, स्थूल रूप तक में! ऐसी चीजों के दो भाग नहीं हैं जिनमें से एक में भगवान् हों और दूसरे में न हों। भगवान् सर्वदा, सर्वत्र विद्यमान हैं। वे किसी चीज को गम्भीरतापूर्वक नहीं लेते, वे प्रत्येक चीज से आनन्द प्राप्त करते हैं और वे तुम्हारे साथ खेलते हैं यदि तुम उनके साथ खेलना जानो। तुम खेलना नहीं जानते, लोग खेलना नहीं जानते। परन्तु वे, कितनी अच्छी तरह खेलना जानते हैं! कितनी अच्छी तरह खेलते हैं वे! प्रत्येक चीज के साथ, छोटी-से-छोटी चीज के साथ खेलते हैं। तुम्हें अपनी मेज पर चीजें रखनी हैं? ऐसा मत समझो कि तुम्हें सोच-समझकर, सजा कर रखना होगा, नहीं, तुम तो खेलने जा रहे हो : तुम इस चीज को यहां और उस चीज को वहां रख दो और फिर इसी तरह रखते चले जाओ। और फिर दूसरी बार दूसरे ढंग से रखो...। कितना सुन्दर खेल है और कितना आनन्ददायी!

अब बात समझ में आ गयी; अब हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि भगवान् के साथ-साथ कैसे हंसा जाता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १०, पृ. १८४-८५

एकमात्र समाधान

समझ रहे हो, **एक** ही रास्ता है, अहं को जाना चाहिये, बस, यही है। यही है। केवल जब "मैं" के स्थान पर कुछ भी न रहे : वह इस तरह से बिलकुल चपटा हो जाये *(किसी बहुत बड़ी, समतल, बिना शिकन की चीज का संकेत)*, जिसमें एक प्रकार का... इसे शब्दों के द्वारा भी अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, पर एक बहुत ही **स्थायी** संवेदन के साथ : "जैसी तेरी इच्छा, जैसी तेरी इच्छा" (शब्द बहुत तुच्छ बन जाते हैं)। वास्तव में यह ठोस संवेदन होता है कि इस (शरीर) का अस्तित्व ही नहीं है, इसका केवल उपयोग किया जा रहा है—केवल 'वह' है। 'वही' यह करता है *(दबाव का संकेत)*। 'उसका' यह संवेदन, यह सचेतन 'विस्तार' जो *(माताजी बांहें फैलाती हैं)*...। अन्त में तुम निश्चय ही इसे देखते हो ("देखते हो", यह रूपकों वाला अन्तर्दर्शन नहीं है, यह एक दृष्टि है... पता नहीं किस तरह की! परन्तु यह बहुत ठोस है, रूपकोंवाले अन्तर्दर्शनों से कहीं अधिक ठोस है), इस **बृहत्** 'शक्ति' का अन्तर्दर्शन, यह **बृहत्** 'स्पन्दन' जो दबाव डालता है, दबाव डालता है, दबाव डालता है... और फिर यह जगत् जो इसके

नीचे कुलबुलाता है और चीज खुल जाती है, और जब यह खुल जाती है तो वह प्रवेश करता और फैलता है।

यह सचमुच मजेदार है।

यही एकमात्र समाधान है। कोई और नहीं। बाकी सब... अभीप्साएं, कल्पनाएं, प्रत्याशाएं हैं... यह अभी तक अतिमानव है, अतिमानस नहीं। यह एक उच्चतर मानवजाति है जो सारी मानवता को ऊपर खींचने की कोशिश करती है, लेकिन वह... उसका कोई फायदा नहीं, कोई फायदा नहीं।

इस समस्त मानवजाति का चित्र बहुत स्पष्ट है जो ऊपर चढ़ने के लिए चिपटी रहती है, जो इस तरह पकड़े रहने की कोशिश करती है, लेकिन वह अपने-आपको देना नहीं चाहती—वह लेना चाहती है! इससे काम न चलेगा। उसे अपने-आप हट जाना होगा। तभी 'वह वस्तु' आकर अपना स्थान ले सकेगी।

सारा रहस्य इसी में है।

उदाहरण के लिए, मानवजाति का यह सारा पक्ष जो चीजों को **बलपूर्वक** हथियाना चाहता है और उन्हें ऊपर वहां खींचता है *(माथे तक की ऊंचाई का संकेत)*... यह मजेदार है: यह मजेदार है, परन्तु यह **वह नहीं** है! वह नहीं है; ये सब सम्भावनाएं समाप्त करनी होंगी जिससे कि मानवता के अन्दर कोई चीज इसे समझ सके... कि केवल वही है *(माताजी आत्म-विलोपन की मुद्रा में हाथ फैलाती हैं)*, अपने-आपको दण्डवत् मुद्रा में लिटा दो, जब तक कि स्वयं तुम्हारा अस्तित्व ही गायब न हो जाये।

वास्तव में, यह—गायब होना सीखना—सबसे कठिन चीज है।

(मौन)

अच्छा ठीक है, वत्स *(माताजी हंसती हैं)*, हम वहां पहुंचेंगे!

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २२९-३०

वीर बनने की घड़ी

मानवजाति ने शताब्दियों और सहस्राब्दियों से इस क्षण की प्रतीक्षा की है। वह आ गया है। पर वह है कठिन।

मैं तुमसे यह नहीं कहती कि हम यहां, धरती पर आराम करने या मौज करने के लिए हैं, अभी उसका समय नहीं है। हम यहां... नयी सृष्टि का मार्ग तैयार करने के लिए हैं।...

मैंने तुम्हें यही कहने के लिए बुलाया है। तुम जो ले सकते हो लो, जो कर सकते हो करो, मेरी सहायता तुम्हारे साथ रहेगी। सभी सच्चे प्रयासों को अधिक-से-अधिक सहायता दी जायेगी।

यह वीर बनने की घड़ी है।

वीरता वह नहीं है जो लोग कहते हैं। यह पूरी तरह एक हो जाने में है—और जो पूरी सच्चाई से वीर होने का निश्चय करेंगे, उन्हें भगवान् की सहायता हमेशा मिलेगी। बस!

तुम इस समय यहां, यानी, धरती पर इसलिए हो क्योंकि एक समय तुमने यह चुनाव किया था—अब तुम्हें उसकी याद नहीं है, पर मैं जानती हूं—इसी कारण तुम यहां हो। हां, तुम्हें इस कार्य की ऊंचाई तक उठना चाहिये, तुम्हें प्रयास करना चाहिये, तुम्हें सभी कमजोरियों और सीमाओं को जीतना चाहिये; और सबसे बढ़ कर तुम्हें अपने अहंकार से कहना चाहिये : "तुम्हारा समय बीत गया।" हम एक ऐसी जाति चाहते हैं जिसमें अहंकार न हो, जिसमें अहंकार की जगह 'भागवत चेतना' हो। हम यही चाहते हैं : एक 'भागवत चेतना' जो जाति को विकसित होने और अतिमानसिक सत्ता को जन्म लेने दे।

अगर तुम यह समझते हो कि मैं यहां इसलिए हूं क्योंकि मैं बद्ध हूं तो यह सच नहीं है। मैं बद्ध नहीं हूं। मैं यहां इसलिए हूं क्योंकि मेरा शरीर रूपान्तर के प्रथम प्रयास के लिए अर्पित है। श्रीअरविन्द ने मुझसे यह कहा था। हां, तो मैं इसे कर रही हूं। मैं नहीं चाहती कि कोई और मेरे लिए यह करे क्योंकि... क्योंकि यह बहुत सुखकर नहीं है। लेकिन मैं इसे खुशी से कर रही हूं—परिणामों के लिए; इससे हर एक लाभ उठा सकेगा। मैं केवल एक चीज मांगती हूं : अहं की बात मत सुनो।

अगर तुम्हारे हृदयों से एक सच्ची "हां" निकलती है तो तुम मुझे पूरी तरह सन्तुष्ट करोगे। मुझे शब्दों की जरूरत नहीं है, मैं चाहती हूं तुम्हारे हृदयों की सच्ची निष्ठा और लगाव। बस, इतना ही।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ३२७-२८

आन्तरिक प्रतिरोध अनर्थ लाता है

साधारण मानव-स्वभाव ऐसा है कि अपनी इच्छा से प्राप्त पराजय दूसरी तरह से प्राप्त विजय की अपेक्षा ज्यादा पसन्द करता है। मुझे ऐसी चीजों का पता लग रहा है... अविश्वसनीय—अविश्वसनीय।

मानव मूढ़ता की गहराई अविश्वसनीय है। अविश्वसनीय।

ऐसा लगता है मानों वह 'शक्ति' जिसके बारे में मैंने कहा था[१] इस तरह नीचे जा रही थी *(अविचलित अवतरण की मुद्रा)*, गहरी, और गहरी, अवचेतना की ओर चलती चली जा रही थी।

अवचेतना में ऐसी चीजें हैं... अविश्वसनीय—अविश्वसनीय। मैं यही देखने में रातों-पर-रातें बिता रही हूं और 'शक्ति' नीचे, नीचे **अनिवार्य रूप से** चलती चली जा रही है।

और तब मानव अवचेतना चिल्ला पड़ती है : "ओह! नहीं, अभी नहीं, अभी नहीं—इतनी जल्दी नहीं!" और इसी के विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है। यह व्यापक अवचेतना है।

और स्वभावतः, प्रतिरोध विभीषिकाओं को लाता है, पर तब व्यक्ति कहता है : "लो देख लो, तुम्हारी क्रिया कितनी लाभदायक है! यह विभीषिकाएं लाती है।" अविश्वसनीय, अविश्वसनीय मूढ़ता।

तुम्हें... भगवान् को कस कर थामे रहना चाहिये।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ३२९-३०

दिव्य शक्तियों के साथ ऐक्य

हम पृथ्वी के इतिहास के एक संक्रमणकालीन क्षण में हैं। यह शाश्वत काल में केवल एक क्षण है, लेकिन मानव जीवन की तुलना में यह मुहूर्त लम्बा है। जड़-भौतिक अपने-आपको नयी अभिव्यक्ति के लिए तैयार करने के लिए बदल रहा है, परन्तु मानव शरीर काफी नमनशील नहीं है और प्रतिरोध करता है; इसी कारण अबोधगम्य अव्यवस्थाओं और रोगों की संख्या बढ़ती जा रही है और चिकित्साशास्त्र के लिए एक समस्या बन गयी है।

[१] २१ फरवरी का अवतरण ("वाञ्छित प्रगति को प्राप्त करने के लिए जबरदस्त दबाव")।

इसका उपाय है कार्यरत दिव्य शक्तियों के साथ ऐक्य और विश्वासी तथा शान्तिभरी ग्रहणशीलता जो कार्य को ज्यादा सरल बना देती है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड १६, पृ. ४७३

सबसे अच्छा उपाय

... अगर तुम्हें यह अनुभूति प्राप्त हो सके कि भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं तो तुम एक अटल श्रद्धा के साथ कह सकते हो : "तुम्हारी सारी दलीलों का कोई मूल्य नहीं; भगवान् के साथ होने का आनन्द, भगवान् के बारे में सचेतन होना सबसे बढ़-चढ़ कर है—सृष्टि से बढ़ कर है, जीवन से बढ़ कर है, सुख से बढ़ कर है, सफलता से बढ़ कर है, सबसे बढ़ कर है—*(माताजी एक उंगली उठाती हैं)* 'वह'! तब सब कुछ ठीक रहता है। और बस, समाप्त। ऐसा लगता है मानों 'वे' प्रकृति की बुरी-से-बुरी चीजों को प्रकाश में धकेल रहे हैं, प्रकाश में, इस 'शक्ति' के साथ सम्पर्क में जबरदस्ती ला रहे हैं... ताकि वे समाप्त हो जायें।...

... मुझे अधिकाधिक ऐसा लग रहा है कि बस एक ही उपाय है...। *(माताजी हंसती हैं)* इसका एक मजेदार चित्र बनता है : मन के ऊपर बैठ जाओ। मन के ऊपर बैठ जाओ: "चुप रहो।" यही एक उपाय है।

तुम मन पर बैठ जाओ *(माताजी एक टकोर देती हैं)*: "चुप रहो।"

... आह, वत्स, हममें श्रद्धा नहीं है। जैसे ही श्रद्धा होती है... हम कहते हैं : "हम दिव्य जीवन चाहते हैं"—फिर भी हम उससे डरते हैं! लेकिन जैसे ही डर चला जाता है और हम सच्चे होते हैं... सब कुछ सचमुच बदल जाता है। हम कहते हैं : "हमें यह जीवन अब और नहीं चाहिये" और *(हंसते हुए)* कोई चीज है जो उससे चिपकी रहती है! कितना हास्यास्पद है यह। हम अपने पुराने विचारों से चिपके रहते हैं, अपनी पुरानी... इस पुरानी दुनिया से चिपके रहते हैं जिसे गायब हो जाना चाहिये—और हम डरते हैं!

और 'दिव्य बालक' मन के सिर पर बैठा खेल रहा है!... काश! मैं यह चित्र बना पाती। यह अद्‌भुत है।

हम ऐसे मूढ़ हैं कि यहां तक कह बैठते हैं *(माताजी खीजी हुई प्रतिष्ठा के लहजे में)*: "यह भगवान् की भूल है, उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।"

यह हास्यास्पद है, वत्स।

(मौन)

मेरी दृष्टि में सबसे अच्छा उपाय (यानी, सबसे सरल) है : पूरी सच्चाई और निष्कपटता के साथ यह कहना, "जैसी 'तेरी' इच्छा। जैसी 'तेरी' इच्छा।" और तब—तब समझ आती है। तब तुम समझते हो। लेकिन तुम मानसिक रूप में नहीं समझते, वह यहां नहीं है *(माताजी अपना सिर छूती हैं)*।

"जैसी 'तेरी' इच्छा।"

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ३३०-३२

भागवत सहायता पाने में अहंकार अड़ंगा लगाता है

मेरी सहायता उन सबके साथ है जिन्हें उसकी आवश्यकता है—अहंकार ही है जो उसे प्राप्त करने में अड़ंगा लगाता है। क्या 'व' अहंकार और चैत्य सत्ता के बीच के भेद को समझ सकता है?...

अहंकार रुकावट डालता है। मानवता को गढ़ने में अहंकार की आवश्यकता थी, लेकिन अब हम अतिमानवता, यानी परा-मानवता को गढ़ने के पथ पर हैं। अहंकार का काम अब खतम हो चुका है—उसने अपनी भूमिका बहुत अच्छी तरह निभायी, अब उसे विदा होना ही पड़ेगा। और चैत्य सत्ता—मनुष्य में भगवान् की प्रतिनिधि—ही बनी रहेगी और नयी प्रजाति में उसी का प्रवेश होगा। इसलिए हमें अपनी सारी सत्ता को चैत्य के चारों ओर इकट्ठा करना सीखना होगा। मानवता के परे जाने के इच्छुकों को अहंकार से पिण्ड छुड़ाना होगा और उन्हें स्वयं को अपनी चैत्य सत्ता के चारों ओर आत्म-केन्द्रित करना होगा।

श्रीमां के साथ एक शिष्य का वार्तालाप १३ अप्रैल १९७२

जानते हो, जब तुम सरल होते हो, बच्चे की तरह सरल... सब कुछ भली-भांति चलता है। लेकिन तुम्हें घबराना नहीं चाहिये। तुम्हें न बीमारी का डर होना चाहिये न इस बात का कि तुम मूढ़मति बन रहे हो, यहां तक कि... मृत्यु का भय भी नहीं होना चाहिये—तुम्हें इस तरह होना चाहिये

—समुद्र की न्याईं *(विस्तार और अचञ्चलता की मुद्रा)*। अगर हम इसे पा सकें (समय-समय पर मुझे यह भान होता है, यह चीज आती है : यह पूरी तरह उतरने-उतरने को है) वह चीज है—मुस्कुराते हुए विश्वास का भाव। लेकिन इसे पाने के लिए स्वयं चेतना को सृष्टि के जितना विशाल होना चाहिये। तुम सृष्टि के जितना फैल जाते हो और उसमें सम्पूर्ण विश्वास होता है।... और अन्त में, सब कुछ इस वाक्य में समा जाता है (जिसे इस तरह बालवत् दृष्टि से रखा जा सकता है) : 'वे' हमसे ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं कि क्या करना चाहिये। बस इतना ही। मैं दोहराती हूं, 'वे' हमसे ज्यादा अच्छी तरह जानते हैं कि क्या करना चाहिये।

...अगर हम मुस्कुरा सकें, चीजें कितनी ज्यादा आसान हो जायेंगी।

श्रीमां के साथ एक शिष्य का वार्तालाप १७ मई १९७२

प्रत्येक के लिए जो करना है किया जा चुका है

अगर किसी ने अपने-आपको भगवान् को सौंप दिया है और वह उन पर विश्वास रखता है तो प्रभु ही उसे अपनी शरण में ले लेते हैं। और... (कैसे समझाया जाये इसे?) उदाहरण के लिए, तब तुम्हारे लिए जो कुछ किया जाना है, प्रत्येक क्षण वही किया जाता है; और अगर बदले में तुम भगवान् से किसी और का भार संभालने को कहोगे तो वे वह भी करते हैं। और वह अच्छे-से-अच्छे के लिए होता है। लेकिन यह भगवान् की दृष्टि से अच्छे-से-अच्छा होता है।

तुम्हें शान्ति में रहना चाहिये। पूर्ण विश्वास की शान्ति में।

शान्ति में सभी बाधाओं को विलीन कर देने की शक्ति होती है।

श्रीमां के साथ एक शिष्य का वार्तालाप १८ जून १९७२

हर चीज तुम्हें आगे बढ़ाने के लिए आती है

लगता तो ऐसा है कि सब कुछ 'जड़ भौतिक' द्रव्य में डूबा हुआ है...। समस्याओं और व्यावहारिक कार्यों में इस तरह डूबे रहने की प्रतीति के बावजूद क्या कोई योग या कोई और चीज हो रही है, तब भी जब हम बाहरी तौर पर इतने डूबे हों कि हमें कोई बोध नहीं होता कि हम कुछ कर रहे हैं?

ओह! लेकिन अब सारी सत्ता (शरीर ने इसे भली-भांति समझ लिया है), सारी सत्ता जानती है कि **हर चीज**, हर चीज, जहां तक हो सके तुम्हें जल्दी-से-जल्दी आगे बढ़ाने के लिए आती है। बाधाएं, विरोध, नासमझियां, निरर्थक व्यस्तताएं, हर चीज, हर चीज, हर एक चीज तुम्हें आगे बढ़ाने के लिए आती है; वह कभी एक बिन्दु को, कभी दूसरे को, कभी किसी और को छूती है ताकि तुम जितनी तेजी से हो सके, उतनी तेजी से आगे बढ़ सको। अगर तुम इस भौतिक द्रव्य के साथ सम्बद्ध न होओ तो यह बदलेगा कैसे? और यह बहुत स्पष्ट है, यह बिलकुल प्रत्यक्ष है कि सभी आपत्तियां, सभी विरोध एक उपरितलीय मन से आते हैं जो चीजों का केवल बाहरी रूप ही देखता है। यथार्थ में यह तुम्हारी चेतना को इसके बारे में सावधान करने के लिए है ताकि वह ऐसी चीजों से धोखे में न आ जाये और साफ देख सके कि यह सब बिलकुल बाहरी है और सतही है, और इसके पीछे जो कुछ किया जा रहा है वह... रूपान्तर की दिशा में यथासम्भव तेजी से बढ़ रहा है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. २३१

बस एक ही रास्ता है

बस एक ही रास्ता है : वही चाहना जो 'परम चेतना' चाहती है—भले हमारी मूर्खता-भरी धारणा के हिसाब से परिणाम हमारे मन के मुताबिक न भी हों।

इस तरह *(श्रीमां अपने हाथ खोलती हैं)* : वह चाहना जो हे प्रभु! 'तू' चाहता है। हम—हम वह प्रभु हैं जो 'स्वयं' को भूल गया है। और हमारा कार्य, हमारा कार्य है—उस टूटे हुए सम्पर्क को फिर से जोड़ना—तुम उसे किसी भी नाम से पुकार लो, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता। हमें बस 'पूर्णता' बनना है। बस वही बनना हमारा कार्य है।

हमें 'पूर्णता', 'शक्ति', 'ज्ञान' बनना है। बस यही बनना है। तुम इन चीजों को जो चाहे नाम दे लो, इससे मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता। हमारे अन्दर इन्हीं चीजों के लिए अभीप्सा होनी चाहिये। हमें इस दलदल, इस मूर्खता, इस निश्चेतना, जुगुप्सा-भरे इस पराजयवाद से बाहर निकलना होगा जो हमें रौंद देता है क्योंकि हम इन चीजों को हमें कुचलने की अनुमति देते हैं।

और हम सारे समय भयभीत रहते हैं। हम इसकी रक्षा के लिए भयभीत रहते हैं *(श्रीमां अपने हाथ की त्वचा का स्पर्श करती हैं)* इसके लिए, मानों यह बहुत कीमती है, क्योंकि हम सचेतन रहना, जीवित रहना चाहते हैं। आओ, हम 'परम चेतना' के साथ एक हो जायें, और तब हम हमेशा, हमेशा सचेतन रहेंगे! सचेतन बनना ही "वह" बनना है। मैं इसे इस तरह रख सकती हूं : हम अपनी चेतना नश्वर चीज से बांधते हैं और हमारे अन्दर नष्ट होने का भय होता है! हां, तो मैं कहती हूं : "आओ, हम अपनी चेतना को शाश्वत 'चेतना' के साथ एक कर लें और तब हम शाश्वत चेतना का आनन्द उठायेंगे।

श्रीमां के साथ एक शिष्य का वार्तालाप १९ जुलाई १९७२

विनम्रता सुरक्षा-कवच है

विनम्रता, पूर्ण विनम्रता सभी उपलब्धियों की कुञ्जी है। हमारा मन सब कुछ के बारे में इतना सुनिश्चित होता है कि वह सोचता है कि वह सब कुछ जानता है, सब कुछ समझता है। और अगर कभी वह किसी ऐसे आदर्श के लिए कार्य करता है जो उसे सत्कार्य प्रतीत होता है तो वह अपने-आपको बहुत महान् समझने लगता है, कट्टर बन जाता है और तब उसे यह समझाना लगभग असम्भव हो जाता है कि उसके सत्कार्यों, उसके परोपकारों और आदर्शों से ऊपर भी महान् आदर्श हैं। सचमुच विनम्रता ही एकमात्र औषध है। मैं उस नम्रता की बात नहीं कर रही जो कुछ धर्मों में पायी जाती है, जहां 'भगवान्' अपनी सन्तानों को छोटा समझते हैं और हमेशा उन्हें घुटनों के बल बैठे हुए देखना चाहते हैं। जब मैं बच्ची थी, इस तरह की नम्रता देख कर मेरे अन्दर विद्रोह उठता था। मैं ऐसे भगवान् को मानने से इन्कार करती थी जो अपनी सन्तानों को हेय दृष्टि से देखता हो। मैं उस तरह की विनम्रता की बात नहीं कर रही। मैं चर्चा कर रही हूं उस विनम्रता की जहां व्यक्ति के मन में अहंकार नहीं होता, बल्कि वह समझता है कि वह सचमुच कुछ नहीं जानता, कि जो कुछ उसे आज सबसे अधिक सत्य, सबसे अधिक विनम्र लग रहा है उसके परे भी 'कोई' वस्तु अवश्य है। सच्ची नम्रता है—सतत रूप से प्रभु के साथ सम्बन्ध जोड़ना, अपना

सर्वस्व उन्हें समर्पित कर देना। जब कभी मेरे ऊपर कोई प्रहार आता है (और मेरी साधना में कई बार ऐसा होता ही है) तो 'स्प्रिंग' की तरह मेरी तुरन्त, सहज प्रतिक्रिया होती है—उन 'प्रभु' की बांहों में स्वयं को प्रक्षिप्त कर देना और कहना 'तू ही, बस तू ही मेरे प्रभो!' इस नम्रता के बिना मैं कभी कुछ उपलब्ध न कर पाती। और मैं 'मैं' का प्रयोग बस अपनी बात को समझाने के लिए करती हूं, वास्तव में, 'मैं' का अर्थ होता है—इस शरीर, इस यन्त्र के द्वारा कार्य करते हुए 'प्रभु'। जब व्यक्ति इस तरह की विनम्रता जीने लगता है तो इसका अर्थ होता है कि वह उपलब्धि की ओर बढ़ रहा है। यही है उचित अवस्था, यही है आरम्भ-बिन्दु।

श्रीमां के साथ एक शिष्य का वार्तालाप २१ दिसम्बर १९५७

बहुत आसान है : जब तुम लोगों से कहते हो, "विनम्र बनो," वे फौरन मान बैठते हैं, "दूसरों के प्रति नम्र होना," और यह नम्रता बुरी है। सच्ची नम्रता 'भगवान्' के प्रति होती है, यानी, यह यथार्थ, प्रत्यक्ष, जीवन्त विचार कि 'भगवान्' के बिना तुम कुछ नहीं हो, कुछ नहीं कर सकते, कुछ नहीं समझ सकते, यह भी कि अगर तुम अपवादिक रूप से बुद्धिमान् और सक्षम सत्ता हो, वह भी भागवत 'चेतना' की तुलना में धूल का कण भी नहीं है—और तुम्हें इसे सतत रूप से अपने हृदय में संजोये रखना चाहिये, क्योंकि तब व्यक्ति के अन्दर ग्रहणशीलता का सच्चा मनोभाव निरन्तर बना रहता है। विनम्र ग्रहणशीलता 'भगवान्' के सम्मुख कोई वैयक्तिक मिथ्याभिमान या आडम्बर नहीं रखती।

श्रीमां के साथ एक शिष्य का वार्तालाप १३ सितम्बर १९६७

जानते हो, हम जटिलताओं से घिरे रहते हैं, लेकिन एक स्थान है जहां सभी गुत्थियां सुलझ जाती हैं, सब कुछ सरल और सीधा हो जाता है—यह मेरी अनुभूति की वास्तविकता है। तुम गोल-गोल घूमते रहते हो, खोज करते हो, अपना सिर खपाते हो और फिर अटक जाते हो; उसके बाद जब तुम सब कुछ छोड़ देते हो तो तुम्हारी आन्तरिक मनोवृत्ति कुछ ऐसा करती है कि जो गुत्थी तुमसे सुलझ नहीं रही थी वह अचानक—बड़े आराम से—खुल जाती है।

मुझे कई बार ऐसा अनुभव हुआ है। इसलिए मैंने श्रीअरविन्द से कहा है कि वे तुम्हें भी यह प्रदान करें।

और वे बारम्बार, जोर देते हुए कहते हैं : सरल बनो, सरल बनो। जो तुम अनुभव करते हो बिना लाग-लपेट के उनसे कह दो। सरल बनो, सरल बनो—कितने आग्रहपूर्वक वे हमसे यह कहते हैं। ये हैं तो शब्द, लेकिन वास्तव में, जब उन्होंने इन शब्दों को उच्चारित किया तो मानों प्रकाश का एक मार्ग खुलने लगा, और सब कुछ बहुत सीधा, सरल हो गया : "एक के बाद एक कदम आगे बढ़ते चलो, बस, हमें यही करना है!"—हां, उन्होंने यही कहा।

कितना अजीब है, लगता है कि सभी जटिलताएं यहां हैं *(श्रीमां अपनी कनपटियों पर हाथ रखती हैं)*, बहुत अधिक जटिलताएं और उनका समायोजन करना बड़ा कठिन होता है; और जब उन्होंने कहा, सरल बनो—तो कितना आश्चर्य!—मानों उनकी आंखों से एक प्रकाश निकल रहा था, मानों व्यक्ति सहसा प्रकाश के एक बगीचे में निकल आया हो।

उनके शब्दों से ऐसा अनुभव हुआ—मानों प्रकाश से नहाया हुआ एक उद्यान सम्मुख प्रकट हो गया हो।

इस सरल चीज पर बहुत जोर दो : जो तुम देखते हो या जो तुम जानते हो उसे सीधे-सरल तरीके से कह दो—सरल, सरल। एक सरलता... एकदम आनन्दपूर्ण उद्यान का भाव था।

सरल बनो, सरल बनो।

जटिलताएं यहां हैं *(समान मुद्रा)*, यह कठोर और पेचीदा है—और एकाएक द्वार खुल जाता है : सरल बनो।

मानों यहां बहुत अधिक मानसिक तनाव है : यहां कनपटियों में।

(मौन)

ध्यान रहे, मुझे भी इसी तरह की कठिनाई का सामना करना होता है, हालांकि यह होती है भिन्न स्तर पर। रोज कितनों से मैं मिलती हूं, कितने भिन्न कार्य हैं मेरे, कितने प्रश्नों, समस्याओं के लिए लोग मेरे पास आते हैं। सब कुछ, सब कुछ। मेरा सारा दिन इतना भरा, इतना अटाअट भरा

होता है... ! एक सामान्य शरीर के लिए इतने घण्टे, इतनी शक्ति का व्यय ! फिर भी, इस सारी चीज के पीछे, कहा जा सकता है कि एक 'सक्रिय अचञ्चलता' रहती है, इस अर्थ में कि चेतना के अन्दर यह भावना हमेशा घर किये रहती है कि वह अचल-स्थिर है, कि वह प्रगति और विकास की धारा के साथ-साथ बढ़ती जा रही है, लेकिन यह अचञ्चलता तो पीछे स्थित है, सतह पर जितना मेरा कार्य है, जो मुझे करना चाहिये, वह भी भली-भांति... तो कभी-कभी चीजें असम्भव-सी प्रतीत होती हैं, काम का ढेर लग जाता है, अफरा-तफरी-सी दिखायी देती है। और तब उनका वही समान उत्तर होता है: सरल बनो, सरल बनो।

आज सवेरे जब मैं अपने दैनिक कार्यक्रम पर नजर डाल रही थी तो वह मुझे बड़ा भारी, असम्भव-सा लगा—काम का इतना जमघट। लेकिन साथ ही यह भावना भी थी... मेरे अन्दर अचञ्चलता की स्थिति प्रबल थी; जैसे ही मैंने अपने अन्दर कार्य को अमल करने की योजना बनानी बन्द कर दी, तुरन्त सारी चीज आनन्द का नृत्य बन गयी, तनाव छूमन्तर हो गया : सारे कोषाणु स्पन्दित होने लगे (एक तरह के उत्साह, एक अद्वितीय संगीत के फव्वारे छूटने लगे), सभी कोषाणु 'उनकी उपस्थिति'—'भागवत उपस्थिति'—के आनन्द से थिरकने लगे। लेकिन जब मैं सतह पर आ जाती हूं, बाहरी जगत् में प्रवेश करती हूं, उसके प्रहारों को झेलती हूं तो... यह आनन्द विलीन तो नहीं, लेकिन पृष्ठभूमि में जरूर चला जाता है। और इसका परिणाम यह होता है कि हमेशा मेरी चुपचाप, अचञ्चल रहने की इच्छा होती है—जब मुझे ऐसा करने का अवसर मिलता है तो अद्‌भुत होता है। लेकिन निस्सन्देह, मैं इस जगत् में हूं इसलिए सभी बाहरी सुझाव आते हैं; असहायता के, वृद्धावस्था, बाहरी टूट-फूट, क्षीण होती हुई शक्ति इत्यादि के सुझाव आते रहते हैं—मैं शत-प्रतिशत जानती हूं कि ये सभी सुझाव मिथ्या हैं। लेकिन शरीर की अचञ्चलता बहुत-बहुत आवश्यक है। हां, तो मेरे लिए श्रीअरविन्द का उत्तर सबसे सटीक है : सरल बनो, सरल बनो, बहुत सरल बनो।

और मैं जानती हूं कि इससे उनका क्या आशय है: सभी कठोर शासन-प्रणालियों, तथाकथित संगठनों, रूढ़िवादों, निर्णायक विचारों को अस्वीकार करो। वे इनमें से किसी चीज को नहीं चाहते। 'सरल बनो' वाक्य से उनका

तात्पर्य है—कार्य में, अभिव्यक्ति में, गति में, जीवन में आनन्दमयी सहजता —सरल बनो, सरल बनो, सरल बनो। आनन्दमयी सहजता। क्रम-विकास में उस अवस्था को फिर से पा लेने को वे भगवान् का नाम देते हैं, जो पुराकाल में स्वतःस्फूर्त और हर्षिल अवस्था थी। वे चाहते हैं कि हम उसकी खोज कर उसे प्रतिष्ठित करें। कई दिनों से वे लगातार मुझसे कह रहे हैं (और वही बात तुम्हारे कार्य पर भी लागू होती है) : सरल बनो, सरल बनो, सरल बनो। इस सहज सरलता में भास्वर हर्ष था।

आनन्दमयी सहजता।

भयंकर है व्यवस्था करने वाला यह मन। यह भयंकर है! इसने मानवजाति को पूरा-पक्का विश्वास दिला दिया है कि इसके बिना हमारा काम नहीं चल सकता, हम पंगु बन जाते हैं, कि इसका विरोध करना असम्भव ही है। समाज के सभी तथाकथित विशिष्ट-वर्ग इस बात के कायल हैं कि मानसिक व्यवस्था करने वाली इस शक्ति के बिना कोई सार्थक चीज की ही नहीं जा सकती।

लेकिन श्रीअरविन्द चाहते हैं कि हमारे अन्दर खिलते हुए गुलाब के जैसा हर्ष हो : सरल, सहज, सरल। और जब मैं ये शब्द सुनती हूं, देखती हूं तो मानों स्वर्णिम प्रकाश की लघु नदी बहने लगती है, खुशबुओं से भरा बाग महक उठता है—सब, सब, सब कुछ खुल जाता है। सरल बने रहो।

तो समझ रहे हो मेरे बच्चे...

पिछले दो-तीन दिनों से मैं तुम्हारे लिए यह सब निरन्तर देख रही थी। और आज सुबह यह चीज मेरे लिए आयी, क्योंकि मेरे सामने काम का ऐसा पहाड़ टूट पड़ा है कि उसे सलटाने के लिए मेरे पास अभी जितना समय है उससे दस गुना अधिक समय चाहिये। तो, मैं जरा चक्कर में पड़ गयी थी; मैं टहलते-टहलते यह सब सोच रही थी, यहां तक कि यह चीज मुझे रुक कर बैठने को बाधित करने लगी, लेकिन मैंने अपना टहलना जारी रखा, मैं उस विचार का जम कर विरोध कर रही थी कि अचानक मुझे अनुभव हुआ कि कैसी नादानी है यह मेरी। यह वही समान चीज थी। उन्होंने मेरे लिए भी वही समान शब्द कहे। मैं तनावमुक्त हो गयी—और फौरन सब कुछ संभल गया, आसान हो गया।

वास्तव में हम बहुत तनावग्रस्त रहते हैं, नहीं रहते क्या?

तो यह रहा वत्स, इस हफ्ते का तुम्हारे लिए मेरा सन्देश।

क्या किया जाये? ओह, वह तनावरहित अवस्था आयेगी। लेकिन यह सच है कि हम सब हमेशा बहुत तनातनी में रहते हैं—हमेशा। और मैं जानती हूं कि जब तक हम इस अद्‌भुत मन के वश में रहेंगे हम यही सोचेंगे कि सुस्ताने या शिथिल होने का मतलब है, तमस् और निश्चेतना में जा गिरना। ये सभी पुराने विचार बने रहते हैं, अपने-आपको निरन्तर बनाये रखते हैं और हमारे मस्तिष्क को नियन्त्रण करने वाले उन अनोखे विचारों में से एक तुमसे यह कहते हुए आ टपकता है : 'सावधान, वह तमस् है, तमस्! सावधान, तुम शिथिल हो रहे हो, सो रहे हो—बहुत बुरी, बहुत ही बुरी बात है।' और यह बेवकूफी-भरी बात है, क्योंकि तमस् न हर्षपूर्ण होता है, न ही प्रकाशपूर्ण, जब कि यह अवस्था अपने साथ तत्काल हर्ष और प्रकाश ले आती है।

श्रीमां के साथ एक शिष्य का वार्तालाप १६ सितम्बर १९६१

प्रेम की शक्ति

'प्रेम' के 'मूल' में कुछ ऐसी चीज है जो अनवरत रूप से 'भागवत कृपा' के हस्तक्षेप के रूप में अनूदित होती है। जो सब जगह शक्ति, मधुरता, प्रशमन के स्पन्दन के जैसी चीज बन कर सर्वत्र फैली है। लेकिन ज्ञान से प्रदीप्त चेतना उसे अमुक बिन्दुओं की ओर भेज सकती या उन पर केन्द्रित कर सकती है। और मैंने देखा कि यहां, हां, यहीं मनुष्य अपने विचार का सच्चा उपयोग कर सकता है : जहां कहीं जरूरत हो, इस स्पन्दन को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने के लिए विचार एक प्रकार की प्रणालिका का काम दे सकता है। यह शक्ति, मधुरता का यह स्पन्दन सारे जगत् पर अचल रूप में छाया हुआ है, वह ग्रहण किये जाने के लिए दबाव डालता है, लेकिन यह निर्वैयक्तिक क्रिया है। विचार—ज्ञान से प्रदीप्त विचार, समर्पित विचार, केवल एक यन्त्र के रूप में रह गया है, विचार जो अब स्वयं पहल करने की कोशिश नहीं करता, जो एक उच्चतर 'चेतना' द्वारा परिचालित होने से ही सन्तुष्ट है—ऐसा विचार एक माध्यम के रूप में काम करता है और इस निर्वैयक्तिक 'शक्ति' के साथ सम्पर्क स्थापित करने, नाता जोड़ने और जहां कहीं जरूरत हो वहां उसे निश्चित बिन्दुओं

पर क्रिया करने-योग्य बनाता है।

यह निरपेक्ष रूप से कहा जा सकता है कि हर अशुभ हमेशा अपना उपचार अपने साथ लिये रहता है। हम कह सकते हैं कि किसी भी पीड़ा का उपचार पीड़ा के साथ ही रहता है। इसलिए, जैसा सामान्यतः समझा जाता है, अशुभ को "बेकार" और "मूर्खतापूर्ण" मानने की जगह तुम उस प्रगति, उस क्रमविकास को देखो जिसने इस पीड़ा को जरूरी बना दिया—जो इस पीड़ा का कारण है, उसके अस्तित्व का हेतु है—तो वह वाञ्छित फल पा लेता है; और साथ ही उन लोगों के लिए पीड़ा भी छू-मन्तर हो गयी जो अपने-आपको खोल सकते और ग्रहण कर सकते हैं। तीन चीजें हैं—प्रगति के लिए साधन के रूप में पीड़ा, प्रगति, और पीड़ा का उपशमन—ये तीनों सहवर्ती और युगपत् हैं; अर्थात्, ये एक-दूसरे के बाद नहीं आतीं, एक ही समय में, एक साथ रहती हैं।

जब रूपान्तर करने वाली क्रिया पीड़ा उत्पन्न करती है, उस समय यदि जिसे पीड़ा हो रही है उसमें आवश्यक अभीप्सा और उद्घाटन हों तो उसके साथ-ही-साथ उपचार भी आ जाता है और प्रभाव पूरा-पूरा, सम्पूर्ण होता है: रूपान्तर, उसे प्राप्त करने के लिए आवश्यक क्रिया होती है और साथ ही प्रतिरोध द्वारा पैदा किये गये मिथ्या संवेदन का उपचार हो जाता है। और पीड़ा का स्थान एक ऐसी चीज ले लेती है... जो धरती पर अज्ञात है, लेकिन यह हर्ष, कल्याण, विश्वास और सुरक्षा से मिलती-जुलती है। यह परम शान्ति में अतिसंवेदन है और स्पष्ट है कि यही एक चीज है जो चिरस्थायी हो सकती है।

'आनन्द' में क्या "निहित" है इसे यह विश्लेषण बहुत ही अपूर्ण ढंग से व्यक्त करता है।

—'श्रीमातृवाणी', खण्ड ११, पृ. ४४-४६

'पुरोधा' :

दैनन्दिनी

मार्च

१. एक शक्ति है जो हमेशा सबको बांटी जा सकती है, बशर्ते कि वह एकदम निर्वैयक्तिक रूप में बांटी जाये। यह है प्रेम, प्रेम जिसमें प्रकाश और जीवन समाये हुए हैं, अर्थात् उसमें समझदारी, स्वास्थ्य और खिलने की सभी सम्भावनाएं हैं।

२. एक उत्कृष्ट उदारता है जो प्रसन्न हृदय और प्रशान्त आत्मा से उठती है। जिसने आन्तरिक शान्ति पा ली है वह जहां कहीं जाये मोक्ष का अग्रदूत, आशा और आनन्द का वाहक होता है। क्या यही वह चीज नहीं है जिसकी कष्ट में पड़ी हुई बेचारी मानवजाति को सबसे अधिक आवश्यकता है?

३. प्रश्नः आपके आशीर्वाद से मेरा रोग आंशिक रूप से ठीक हो जाता है, लेकिन चला नहीं जाता।

उत्तर : यह तुम्हारे शरीर की ग्रहणशीलता का यथार्थ परिमाण बताता है। रोगग्रस्त अंगों पर शक्ति को एकाग्र करो और उनमें सुधार होगा।

४. मैं तुम्हें यह बतला सकती हूं कि कोई ऐसी बात नहीं होती जिसे सुधारा न जा सके। निश्चय ही आदमी मार्ग से जितनी दूर भटक जाये, उसे वापिस लौटने के लिए उतने ही मौलिक परिवर्तन की जरूरत होगी; लेकिन वापिस आना हमेशा सम्भव है।

५. व्यक्तिगत प्रगति के लिए जिन सच्ची अनुभूतियों की जरूरत है वे उन परिस्थितियों पर निर्भर नहीं हैं जिनमें तुम रहते हो, ये निर्भर होती हैं आन्तरिक वृत्ति और प्रगति के लिए संकल्प पर।

६. हमारा मार्ग आसान नहीं है, वह बहुत साहस और अथक सहिष्णुता की मांग करता है। परिणाम पाने के लिए, जो कभी-कभी बाहरी तौर पर मुश्किल से दिखायी देते हैं, शान्त-स्थिरता के साथ, कठिन परिश्रम और महान् प्रयास की जरूरत होती है।

७. सब कुछ इस पर निर्भर करता है कि तुम अपना यन्त्रवत् उपयोग करने देने के लिए किस शक्ति को चुनते हो। और यह चुनाव तुम्हें जीवन के हर क्षण करना होता है।

८. तुम्हारे अन्दर जो चीज साधारण जीवन से आसक्त है और जो भागवत जीवन के लिए अभीप्सा करती है, उन दोनों के बीच संघर्ष है। यह तुम्हें देखना है कि जो चीज तुम्हारे अन्दर प्रबल हो उसे चुनो और उसके अनुसार कार्य करो।

९. तुम वन के एकान्त में जो करते हो उसका नहीं, जीवन-संग्राम में जो करते हो उसका महत्त्व है। हर चीज "साधना" का अंग हो सकती है, यह आन्तरिक वृत्ति पर निर्भर होता है।

१०. तुम्हें जो चीज जाननी चाहिये वह है, ठीक तरह से यह जानना कि तुम जीवन में क्या करना चाहते हो। इसे सीखने में जो समय लगता है उसकी कुछ परवाह नहीं क्योंकि जो लोग 'सत्य' के अनुसार जीना चाहते हैं, उनके लिए हमेशा कुछ सीखने के लिए, कुछ प्रगति करने के लिए होता ही है।

११. सत्य के लिए सच्ची अभीप्सा जीवन को मूल्य प्रदान करती है।

१२. सदा अभीप्सा करना और भगवान् की उपस्थिति का अनुभव करना न उस स्थान पर निर्भर करता है जहां तुम रहते हो और न वहां की परिस्थितियों पर। वह आन्तरिक सच्चाई पर निर्भर करता है।

१३. सच पूछो तो अज्ञान, अचेतनता और विभाजन की ये विरोधी शक्तियां ही इस जगत् को इतना घृणित स्थान बना रही हैं—अन्याय और दुःख-कष्ट से आक्रान्त कर रही हैं। परन्तु भगवान् इन शक्तियों को पराजित करने के लिए कार्य कर रहे हैं और भगवान् की विजय सुनिश्चित है, चाहे जितना भी समय क्यों न लग जाये।

जीवन्त आशा और श्रद्धा बनाये रखो। मैं चाहती हूं कि यह विजय शीघ्र आ जाये।

१४. भगवान् के साथ युक्त होने के दो तरीके हैं। एक, हृदय में एकाग्र होना और वहां उनकी उपस्थिति को पाने के लिए उसकी गहराइयों में उतर जाना। दूसरा, उनकी बांहों में अपने को डाल देना और उन्हीं में अपने-आपको मिटा देना। उन्हीं में सहारा लेना जैसे बच्चा अपनी मां की बांहों में अपने-आपको खो देता है **पूर्ण समर्पण** के साथ। इन दोनों में से मुझे दूसरा ज्यादा आसान मालूम होता है।

१५. बन्द दरवाजों को खोलने के लिए अपने दोष स्वीकार करने के समान अच्छी कोई चीज नहीं है। **जो चीज मुझे बताने में सबसे अधिक भय**

लगता है वह मुझे बता दो और तुरन्त ही तुम अपने-आपको मेरे अधिक नजदीक अनुभव करोगे।

१६. किसी चीज से मत डरो : भगवान् सभी सच्ची अभीप्साओं का उत्तर हमेशा देते हैं और उन्हें जो कुछ सहर्ष समर्पित किया जाता है उसे कभी अस्वीकार नहीं करते। इसलिए तुम इस निश्चयता की शान्ति में निवास कर सकते हो कि भगवान् ने तुम्हें स्वीकार कर लिया है।

१७. तुम जितना अधिक खिन्न रहोगे और जितना अधिक विलाप करोगे उतना ही अधिक मुझसे दूर होते जाओगे। **भगवान् खिन्न नहीं हैं** और भगवान् को पाने के लिए तुम्हें सारी खिन्नता और हृदय की सारी दुर्बलताओं को अपने अन्दर से दूर फेंक देना होगा।

१८. स्वार्थपरता और आत्मदया से कोई लाभ नहीं होता। ज्यादा अच्छा है कि तुम इन दोनों से पिण्ड छुड़ा लो—क्योंकि यही दो संकीर्ण गतिविधियां तुम्हें भगवान् की सहायता और उनके प्रेम का अनुभव करने से रोकती हैं।

१९. प्रश्न : मुझे विरोध, अविश्वास और जुगुप्सा बिलकुल व्यर्थ लगते हैं। हम सब कितनी आसानी से मित्र बन सकते हैं।

उत्तर : 'परम प्रभु' जब धरती पर मनुष्यों के जीवन को देखते हैं तो 'अपने-आप' से यही कहते हैं!

२०. अगर पूर्ण न होने के कारण मनुष्य काम बन्द कर दें तो हर एक काम बन्द कर देगा। हमें काम में ही प्रगति करनी चाहिए और अपने-आपको शुद्ध बनाना चाहिये।

तुम जो काम कर रहे हो उसे जारी रखो, लेकिन यह कभी न भूलो कि वह ज्यादा अच्छा हो सकता है और उसे होना चाहिये।

२१. तुम्हारी सच्ची प्रगति तब होती है जब भगवान् में एकाग्र होना तुम्हारे जीवन की अनिवार्यता बन जाता है, जब तुम उस एकाग्रता के बिना रह नहीं सकते, जब वह सुबह से रात तक, चाहे तुम किसी भी कार्य में व्यस्त क्यों न हो, स्वाभाविक रूप से जारी रहती है।

२२. बिना कोई मांग किये प्रेम करने का आनन्द सीखो, प्रेम के आनन्द के लिए प्रेम (संसार में यह सबसे अद्‌भुत आनन्द है)। और तुम्हें कभी अकेलापन न लगेगा।

२३. अगर चीजें हमारे लिए गलत और बुरी होती जायें—और वास्तव में

इस समय फैले हुए मिथ्यात्व के कारण ऐसा होगा—तब भी हमें सत्य पर स्थित रहने के निश्चय से न डिगना चाहिये।

यही एकमात्र रास्ता है।

२४. प्रश्न : व्यक्ति "खुलता" कैसे है?

उत्तर : नीरव-निश्चल मन में श्रद्धा और समर्पण द्वारा।

२५. प्रश्न: माताजी की शक्ति क्या है और हम उसके प्रति कैसे खुल सकते हैं?

उत्तर : वह भागवत शक्ति है जो स्वभाव को बदलती है। अपने-आपको अचञ्चल बनाओ और केवल माताजी की ओर मुड़ो।

२६. हमेशा और हर स्थिति में वही चाहना जो 'तुम' चाहते हो, यही परम पावन शान्ति का रस लेने का एकमात्र तरीका है।

२७. तुम्हारे दोष गायब होंगे अगर तुम उन्हें गायब करने के लिए जो करना जरूरी है वह करो, अन्यथा नहीं।

२८. उदास न होना बहुत अधिक आवश्यक है। उदासी एक प्रकार की कमजोरी का लक्षण है, कहीं पर एक दुर्भावना का लक्षण है। इस अर्थ में दुर्भावना कि वह दिव्य सहायता लेने से इन्कार करती है, एक प्रकार की कमजोरी जो कमजोर होने में ही सन्तुष्ट होती है।

२९. हम धरती पर हैं; हम जो समय धरती पर बिताते हैं वह ऐसा समय है, जब हम प्रगति कर सकते हैं। पार्थिव जीवन के बाहर हम प्रगति नहीं करते।

३०. होना यह चाहिये कि समस्त अतीत हमेशा ऐसे पायदान या सीढ़ी की तरह हो जो तुम्हें आगे ले जाये, जिसका मूल्य केवल यही है कि वह तुम्हें आगे बढ़ाता चले।

३१. जो बीत चुका है उसकी ओर पीठ करके, जो तुम करना चाहते हो उसी पर नजर रखो, तो हमेशा तुम बहुत तेजी से आगे बढ़ोगे, मार्ग में समय न खोओगे।

बिनती

घने पेड़ों का यह लम्बा सिलसिला कहां जाकर खत्म होता है, कम-से-कम मुझे इसका इल्म नहीं। क्योंकि आज इस इलाके में मेरी तैनाती का पहला दिन है। सभी जानते हैं कि मैंने हर मुमकिन कोशिश की थी इस इलाके में अपनी तैनाती रुकवाने की। लेकिन सिर्फ नाकामी मेरे हाथ लगी। लाचार होकर मुझे यहां आना पड़ा था। सो भी यह सोच कर कि 'ज्वाइन' करते ही लम्बी छुट्टी की दरख्वास्त दे दूंगा, लेकिन किस्मत को कुछ और ही मंजूर था।

दफ्तर में मेरी हाजिरी के पहले ही, मेरे लिए डिपार्टमेंट (विभाग) के सबसे बड़े अफसर का आदेश मौजूद था। मुझे तुल्सियान कमेटी की रिपोर्ट की सिफारिश के प्रकाश में तुरन्त आवश्यक कदम उठाने को कहा गया था।

तुल्सियान कमेटी की रिपोर्ट मैंने देखी तक नहीं थी, पढ़ने और उसकी सिफारिशें जानने का सवाल ही कहां पैदा होता था? साथी-अफसरों ने मुझे रिपोर्ट की एक कॉपी उपलब्ध करायी। लोहेवाली आलमारी के किसी कोने में रखी यह रिपोर्ट अन्दर-बाहर धूल से पटी थी।

रिपोर्ट मेज पर रखते समय एक अफसर ने धीमे स्वर में मुझे बताया कि डिपार्टमेंट सबसे पहले उस सिफारिश पर अमल कराना चाहता है, जिसमें जंगल के बूढ़े पेड़ों को काट कर हटा देने की बात कही गयी है।

इस काम को अंजाम देने के लिए ही दरअसल इलाके में मेरी तैनाती हुई थी। डिपार्टमेंट ने मुझे तीन दिन का समय दिया था। पहले तो जी में आया, लिख कर भेज दूं कि तीन दिन में यह काम मुमकिन नहीं, तीन महीनों में भी नहीं। भरे-पूरे जंगल में बूढ़े पेड़ों की तलाश कोई इतना आसान काम नहीं कि मिनटों में सम्पन्न हो जाये। फिर मैं इलाके से अच्छी तरह वाकिफ भी तो नहीं हूं। डिपार्टमेंटवालों ने पेड़ों की गिनती की है या नहीं, इसकी भी मुझे जानकारी नहीं। कैसे हो सकता है आखिर तीन दिनों में यह मुश्किल काम!

इसी उधेड़-बुन में था कि फोन की घण्टी बजी। दूसरी तरफ वही आला अफसर था—'सरकार का फैसला है, सारे बूढ़े पेड़ काट देने हैं। उनकी

जगह नये पेड़ लगेंगे। नये पेड़, जो अगले सौ, दो सौ साल जिन्दा रहेंगे, जो हमारे पर्यावरण को स्वस्थ रखेंगे। सख्ती से इस फैसले को लागू करना है। आज से ही यह काम शुरू करो।'

आला अफसर बोलता गया। मेरे लिए सिर डुलाने और 'जी' कहने के सिवा कोई रास्ता नहीं बचा था।

'खामोश क्यों हो? बोलते क्यों नहीं?' अफसर ने रोबदार लहजे में कहा।

'जी, आपने आज ही काम शुरू करने की ताकीद की है। पर मैं सोचता था कि आज ड्यूटी ज्वाइन करके साथी-अफसरों से विचार-विमर्श कर लूं। इसके बाद काम की योजना बनाऊं।'

मेरा वाक्य पूरा हो, इसके पहले साहब ने घुड़की-भरे अंदाज में कहा —'तुम्हें वहां सोचने-विचारने की खातिर नहीं भेजा गया। यह काम हमारा है, तुम्हारा नहीं। हमने सोच-विचार करके ही फैसला किया है। तमाम बूढ़े पेड़ों को काट डालना है। अब आगे किसी बहस की जरूरत नहीं। हुक्म की तामील करो और शाम तक रिपोर्ट भेजो। तुम्हारे अमलों का एक दस्ता जंगल की तरफ जा चुका है। दफ्तर में कुर्सी तोड़ने की बजाय सीधा 'फील्ड' में जाओ। ध्यान रखो कि ढिलाई बरती तो 'प्रमोशन' रुक जायेगा। 'इन्क्रीमेंट' रुकेगा, सो अलग।' आगे और बातचीत की गुंजाइश नहीं थी।

मैंने घड़ी देखी। सुबह के नौ बज रहे थे। गाड़ी से उतारा गया मेरा सामान अब भी दफ्तर के बाहरवाले बरामदे में पड़ा था। सामने खड़े अपने चपरासी बाबूलाल को मैंने कहा—

'इन्हें यहीं कहीं एक किनारे डाल दो, शाम को मैं लौट कर अपना कमरा ठीक करूंगा।' बाहर जीप तैयार खड़ी थी।

जहां आकर जीप एक हिचकोले के साथ रुक गयी, ठीक वहीं से शुरू होता है घने पेड़ों का वह लम्बा सिलसिला, जिसका अन्त कहां है, मुझे नहीं मालूम। मेरे से पहले गये अमलों (मजदूरों) को भी शायद इसका ज्ञान नहीं।

मेरा अन्देशा सही था। पेड़ों की गिनती नहीं हुई थी। उन पर कोई संख्या दर्ज नहीं थी। पेड़, जिनकी बेतरतीब शाखाएं चारों दिशा में जमीन तक लटक- लटक-सी गयी थीं, और जिन्हें देखने से किसी तपस्वी की

जटाएं याद हो आती थीं। पेड़, जो सिलसिलेवार कतारबन्द नहीं थे। जो बस यूं ही, घने-घने, जहां-तहां उग-उग कर उम्रदराज हो गये थे। इन्हें तरतीब में लाना डिपार्टमेंट की नजर में एक जरूरी काम था!

मैंने अपने अमलों से पूछा—

'बता सकते हो, इनमें कौन-से पेड़ बूढ़े हैं, जिन्हें काटने के लिए हमें यहां भेजा गया है?'

'सारे के सारे, जिनकी शाखाएं जमीन तक झूल गयी हैं, और जिनके तने दूर-दूर तक फैल गये हैं, सब के सब बूढ़े हैं। तुल्सियान कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में ऐसा कहा है।'

'क्या होगी, इन पेड़ों की उम्र?'

'यही कोई दो-ढाई सौ साल, इससे कम नहीं।'

'गिरते क्यों नहीं आंधी-तूफान में भी?'

'कहना मुश्किल है। शहर में तो पन्द्रह-बीस वर्षों में ही हल्की-फुल्की आंधी से भी पेड़ गिर जाते हैं, जड़ें उखड़ जाती हैं। लेकिन हमारे इस जंगल में पेड़ जल्दी मरते नहीं। दो सौ, तीन सौ साल बीतने पर भी नहीं।'

'तो फिर कमेटी इन्हें क्यों मारना चाहती है?'

'कमेटी कहती है, पेड़ बेकायदा उग आये हैं। इन्हें कायदे में लाना जरूरी है। इसके अलावा, बूढ़े पेड़ों को जाना भी चाहिये, कब तक धरती का बोझ बने रहेंगे।'

'इस तरह हम आखिर कब तक चलते रहेंगे?'

'जब तक हमें इस जंगल का सबसे बूढ़ा पेड़ नहीं मिल जाये, हम इसी तरह चलते रहेंगे।'

अमलों ने चौंक कर मेरी तरफ देखा। कहीं मैं मानसिक सन्तुलन तो नहीं खो रहा हूं!

'लेकिन हम रात कहां बितायेंगे, हमारे पास खाने-पीने का ज्यादा सामान भी तो नहीं। फिर कौन जानता है, यह जंगल कितनी दूरी तक फैला है? रास्ते में खतरे भी हैं। हमें अब वापस लौटना चाहिये।'

तभी हमारे साथ-साथ चल रहे वनपाल अहमदीन ने कहा—

'आगे, पहाड़ी के नजदीक, एक छोटा-सा रेस्ट हाउस है। हम वहां रात गुजार सकते हैं। एक गार्ड भी वहां रहता है। शायद वह हमारे लिए खाने-

पीने का कोई इन्तजाम कर दे।'

सूरज डूबने-डूबने को था कि हम रेस्ट हाउस के पास पहुंचे। उस रात हम गार्ड के मेहमान रहे। अगली दो रातें भी हमने जंगल के उसी रेस्ट हाउस में बितायीं। दिन-दिन भर हम जंगल के सबसे बूढ़े पेड़ की तलाश करते। जमीन की सतहें छूने वाला कोई पेड़ नजर आने पर हम थोड़ी देर वहां रुक कर पेड़ की उम्र का अन्दाजा लगाते, उसकी लटों को अपने थके-थके हाथों से सहलाते, उसके पत्तों से अपनी हथेलियां सटा कर अपने भीतर एक अजीब-सी ठण्डक का सञ्चार करते। इन तीन दिनों में हमें कहीं कोई बूढ़ा पेड़ नहीं मिला। सभी सौ, दो सौ, तीन सौ साल के चिरयुवा नजर आये। अपने गगनचुम्बी उन्नत मस्तक तथा घनघोर सदाबहार घटाएं लिये वे हमारी ओर वत्सल दृष्टि से निहार रहे थे। उनके चेतन स्पर्श से मैंने भीतर एक बल का अनुभव किया और मुझे मेरा मार्ग मिल गया।

चौथे दिन की सुबह, जब मैंने वापस शहर लौटने का फैसला किया तो अमलों की जान में जान आयी। उनमें कई तो मान बैठे थे कि हम अब जंगल से बाहर नहीं निकल पायेंगे। शहर पहुंचते-पहुंचते शाम हो गयी। चपरासी बाबूलाल हमारी तीन दिनों की गैरहाजिरी से दहशत की हालत में था।

'साहब, मेरा तो चिन्ता से बुरा हाल हो गया। बार-बार बड़े साहेब का फोन आता। पूछते, 'क्या रिपोर्ट है? कितने पेड़ कटे हैं अब तक?' सरकार, हम क्या जवाब देते? कहते रहे, हाकिम जंगल से नहीं लौटे। काम चल रहा होगा, यही वजह है कि अब तक नहीं लौटे।'

'तुमने बिलकुल ठीक कहा। बाबूलाल, मैं जंगल में ही था, मेरा काम चल रहा था। लेकिन अब मेरा यहां का काम खत्म हो गया है। मेरा सामान बाहर गाड़ी में रख देना। मैं आज ही वापस अपने गांव जा रहा हूं।'

दफ्तर छोड़ने से पहले, बस थोड़ी देर के लिए मैं अपनी कुर्सी पर बैठा हूं।

मैंने सरकारी पैड पर अपने सबसे बड़े अफसर के नाम एक छोटा-सा पत्र लिखा है।

पत्र का आखिरी हिस्सा कुछ इस प्रकार है :

"तीन दिनों तक मैं जंगल में उन बूढ़े पेड़ों की तलाश करता रहा जिन्हें काट कर गिरा देने की आपने हिदायत दी थी। मुझे जंगल में एक भी ऐसा

पेड़ नहीं मिला जिसे मैं बूढ़ा और निकम्मा कह सकूं। मैंने बार-बार महसूस किया जैसे खुद मैं ही इस जंगल का सबसे बूढ़ा पेड़ हूं! आखिर कब तक मैं नये 'पेड़ों' के रास्ते की रुकावट बना रहूंगा? कृपया अपने हाथों इस बूढ़े पेड़ को काट कर गिरा दें, ऐसी मेरी आपसे बिनती है।"...

'मैत्री' से साभार —जाबिर हुसैन

भक्त के हृदय में समा गये भगवान्!

भक्त और भगवान् की कहानियां भारतवर्ष की धड़कन हैं। प्रस्तुत है दक्षिण भारत के एक भक्त की कहानी। व्यावसायिक केन्द्र नागापट्टिनम् में शिवजी का अनन्य भक्त अखिलेश्वर नामक एक मछुआरा रहा करता था। ईश्वर की असीम कृपा थी मछुआरों की इस बस्ती में। स्त्री-पुरुष सभी अपने-अपने व्यवसाय में लगे रहते, न वहां बैठे-ठाले के झगड़े हुआ करते न गाली-गलौज की बौछारें। वास्तव में इसका श्रेय अखिलेश्वर को जाता था, साधु प्रकृति के उस व्यक्ति का सारे गांव पर कुछ ऐसा प्रभाव था कि सभी मछुआरों ने उसे अपना मुखिया मान लिया था और हर एक मामले में वे उसी से सलाह-मशविरा करते थे। उसकी पत्नी भी उसी की भांति सुशीला, पतिपरायणा और कुशल गृहिणी थी। अखिलेश्वर इस सबका श्रेय अपने शिवजी को देता। लेकिन एक बात उसके मन में रात-दिन कांटे की भांति चुभा करती थी। मछली पकड़ने के अपने इस पेशे से वह सन्तुष्ट नहीं था क्योंकि हर बार जाल में तड़पती मछलियों को दम तोड़ते देख उसका दिल बैठ जाता और वह सोचता—"हे दीनबन्धो, तूने मुझे मछुआरा क्यों बनाया, कितनी जीव-हत्याएं मैं रोज-रोज करता हूं, इस पेशे से मुझे किसी तरह मुक्ति दिला दे भगवन्, बस मेरी तेरे चरणों में यही बिनती है।" कई बार उसने अपने गांव के बड़े-बूढ़ों से भी इस बात की चर्चा की, लेकिन सबका यही मत था कि भगवान् ने हमें अगर मछुआरा बनाया है तो हमें भी अपने धर्म का पालन सहर्ष करना चाहिये। हर एक अगर अपने व्यवसाय में कुछ-न-कुछ खोट या आपत्ति उठाये तो इस संसार का नियम भंग हो जायेगा और एक बार नियम के टूट जाने पर चारों तरफ अव्यवस्था फैल

जायेगी। अखिलेश्वर इस तर्क का प्रत्युत्तर न दे पाता और न ही वह अपना गांव छोड़ किसी और ही व्यवसाय में जा सकता था। आखिर मन मसोस कर रह जाता। रोज सवेरे समुद्र में जाल डालने से पहले वह शिवजी की स्तुति करता, अपने पापों की क्षमा मांगता और जाल में आयी मछलियों में से सबसे अच्छी मछली पानी में अपने प्रभु के चढ़ावे के रूप में बहा देता। कभी-कभी उसके संगी-साथी उसका मजाक उड़ाते हुए कहते—"भय्या, जिस मछली के सबसे अधिक दाम उठेंगे उसे ही तुम छोड़ देते हो! अरे चढ़ावा तो दूसरी मछलियों से भी चढ़ाया जा सकता है।" लेकिन अखिलेश्वर चुपचाप सुनता, यह न कह पाता कि भाई, मेरे बस में हो तो दुनिया से मछुआरों का व्यापार ही उठवा दूं...

लेकिन फिर भी वह मछुआरों की आदर्श बस्ती थी जहां सभी चैन की बंसी बजाया करते, झगड़ों से दूर, मिल-जुल कर रहा करते जिसके फलस्वरूप वह किसी भी समृद्ध बस्ती से होड़ ले सकती थी।

लेकिन भगवान् भी तो समय-समय पर लीला किया करते हैं, अपने भक्तों को अपने अधिक निकट लाने के लिए नये-नये खेल रचते रहते हैं, अपने प्रिय भक्त अखिलेश्वर को भी उन्होंने कसौटी पर कसना चाहा। देखते-न-देखते अखिलेश्वर को व्यापार में घाटा होने लगा, उसके जाल में पहले तो मछलियां ही आनी कम हो गयीं और जो फंसती भी थीं वे कम दाम पर उठतीं। लेकिन अखिलेश्वर अपना चढ़ावा कभी न भूलता। धीरे-धीरे पत्नी के गहने-कपड़े, घर के भाण्डे-बर्तन बेचने तक की नौबत आ गयी, लेकिन पत्नी भी पति के अनुरूप ही थी, ऐसे दुर्दिन में एक बार भी उसने अपने पति से न किसी चीज की शिकायत की और न अपने माथे पर शिकन ही आने दी। उसे भी अपने भगवान् पर पूरा-पूरा भरोसा था।

घर का सामान चुक जाने के बाद गांववाले अपने मुखिया की आर्थिक दृष्टि से मदद करते रहे, लेकिन एक दिन जब उन्हें पता लगा कि अखिलेश्वर अब भी अपने जाल की सबसे बढ़िया मछली समुद्र में छोड़ देता है तो उनके धीरज का बांध टूट गया। आपस में कानाफूसी होने लगी। किसी ने कहा—"मुखिया को अब तो सोच-समझकर काम करना चाहिये, घर पर अन्न के दाने-दाने के लिए परिवार तरस रहा है और ये भेंट देने की अपनी रस्म अब भी रोज पूरी करते हैं।" किसी दूसरे ने अपना मत दिया—"हां भाई,

हम भी कब तक इन्हें खिला सकते हैं, आखिर हमारी आय भी तो सीमित है।" उधर से तीसरी आवाज सुनायी दी—"ठीक कहते हैं आपलोग, जिस मछली से कुछ पैसे मिल सकते हैं उसे तो वे भगवान् के नाम पर छोड़ देते हैं। अब हम मनुष्य उनकी सहायता कब तक करें, जब वे भगवान् के सहारे हैं तो वे ही उन्हें देखें।"

बात कड़वी तो थी, लेकिन बस्ती के अन्य सभी मछुआरों का भी यही मत बना और उस दिन से वे अपने मुखिया से कन्नी काटने लगे।

क्या भगवान् शंकर को भी यही अभीष्ट था कि उस स्वर्ग-समान गांव के लोगों के दिलों में दरार पड़ जाये? नहीं, वे तो सदा की भांति अपनी लीला में मगन थे—समय-समय पर वे अपने भक्त की परीक्षा लेते रहते हैं और भक्त जब उसमें उत्तीर्ण हो जाये तो स्वयं प्रभु कृतकृत्य हो उठते हैं। ऐसी ही घड़ी थी यह।

अखिलेश्वर के घर उस दिन भोजन का एक कण भी न था और न हाथ में फूटी कौड़ी ही थी। बच्चे भूखे पेट सो गये, रात का घुप् अंधियारा सारे जगत् पर छाया हुआ था, अखिलेश्वर का हृदय भी दुःख की काली घटाओं से घिर आया। अपने लिए नहीं, अपने परिवारवालों की हालत देख कर उसके आंसू छलक उठे। उसी समय उसने जाल उठाया और नाव लेकर समुद्र में जाने के लिए तत्पर हो गया। पत्नी ने समझाया, लेकिन वह उसे आश्वासन देकर निकल गया। काफी गहरे जाकर अपने इष्टदेव का स्मरण कर उसने जाल समुद्र में फेंक दिया। रात की ठण्डी हवा के झोंकों से अखिलेश्वर को झपकी आ गयी। सपने में उसे लगा मानों स्वयं शिवजी उसके घर पधारे हैं और उसकी पत्नी तथा बच्चों को दुलार रहे हैं। अचानक उसकी आंख खुल गयी, देखा, उषा की पहली किरणों के स्वागत के लिए आसमान तैयारी में जुटा है। अखिलेश्वर ने अपना जाल समेटना चाहा, लेकिन यह क्या, वह तो उससे रत्ती भर भी न हिला, "प्रभो! लगता है आज तूने इतने दिनों की कसर पूरी कर दी, बहुत सारी मछलियां मेरे हिस्से में डाल दीं।" आस-पास की नावों के मछुआरों की मदद लेकर वह किसी तरह तट पर आया। सभी उत्सुक थे, प्रसन्न थे कि आखिर अखिलेश्वर का परिवार कुछ समय तक भूखे पेट न सोयेगा। तट पर पहुंच कर जो देखा तो सबको काठ मार गया। सारा गांव उमड़ पड़ा, गांव के बड़े-बूढ़ों

ने भी अपने लम्बे जीवन में आज तक इतनी बड़ी, सुन्दर और अद्वितीय मछली कभी न देखी थी। अखिलेश्वर के जाल में और कुछ नहीं बस वही भीमकाया मछली थी। चारों तरफ से आवाजें उठने लगीं। किसी ने कहा—"भय्या, देखो भगवान् के घर में देर है अंधेर नहीं।" दूसरी ओर से आवाज आयी—"हां, अब तुम्हारे दिन पलट रहे हैं भाई, इस मछली से तो तुम्हारे घर में पैसों का अम्बार लग जायेगा।" एक वृद्ध की आवाज आयी—"हां बेटे, ऐसी मछली हमने अपने जीवन में तो कभी न देखी। अब तुम्हारे दुःख के दिन कट गये समझो।"

लेकिन अखिलेश्वर तो कुछ और ही सोच रहा था। जब चारों तरफ का कोलाहल समाप्त हुआ तो उसने शान्त-भाव से कहा—"सचमुच भाग्यवान् हूं मैं कि मेरे जाल में ऐसी अद्‌भुत मछली आयी और उससे भी अधिक प्रसन्न हूं कि आज शिवजी को मेरा अर्घ्य भी अपूर्व होगा।"

"अरे यह तो अपने परिवारवालों का पेट काटने पर तुला है। इससे बहस करना पत्थर से सिर फोड़ना है।"

"हां, मत मारी गयी है अखिलेश्वर की, भगवान् छप्पर फाड़ कर दे रहे हैं और यह..."

"चलो, चलो भई, यहां हमारी क्या जरूरत है, छोड़ दो पुजारी को अपने इष्टदेव के सहारे, वैसे ही खाने के लाले पड़े हैं, बहा देने दो इस मछली को भी, फिर इसके इष्टदेव ही इसे खिलायें-पिलायें।"

"हां, ऐसी भी क्या मूर्खताभरी भक्ति!"

जितने मुंह उतनी कड़वी बातें उस मनुष्य के लिए निकल रही थीं जो गांव का मुखिया कहाता था। लेकिन वह सबसे पहले भक्त था; उसने न किसी के कटु वचनों पर कान दिया और न ही अपने कर्तव्य-कर्म से डिगा।

देखते-न-देखते नदी का तट सूना हो गया। बच रहा केवल अखिलेश्वर अपने पुजापे और परिवारवालों के संग। उन सबका मत अखिलेश्वर से भिन्न न था। सबने चढ़ावे को फिर से नदी में विसर्जित करने से पहले तट पर शिवजी की स्तुति की और जब आंखें खोलीं तो कहां गयी वह अपूर्व भेंट? सामने तो साक्षात् शिवजी खड़े मन्द-मन्द मुस्करा रहे थे। अपने भक्त को हृदय से जुड़ाते हुए भगवान् के नेत्र भी छलक उठे—"वत्स, तुमने परीक्षा में उत्तीर्ण हो मुझे धरा पर अवतरित कर दिखाया। मैंने तुमलोगों का संग

न दु:ख में कभी छोड़ा था और न अब आने वाले सुख के दिनों में ही छोडूंगा, तुमने मुझे भक्ति की ऐसी डोर से बांध रखा है कि उससे छूटने का न मुझमें साहस है न क्षमता। मछली का रूप धर कर इस कारण आया था कि देखूं आज तुम इस अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होते हो या नहीं..."

"भगवन्, अब हमें आपके सिवाय और कुछ न चाहिये।" सारा परिवार शिवजी के चरणों में लोट गया।

और सचमुच शिवजी स्वर्ग में वापिस न जा सके, अपने भक्तों के हृदय में समा गये।

—वन्दना

('पुरोधा', जून १९९९ से)

हवा खुद ही मेरे कमरे में खुशबू फैला जाती है,
बारिश खुद ही मेरे कमरे में ठण्डी बौछार कर जाती है,
सूरज खुद ही मेरे कमरे में प्रकाश उंडेल जाता है,
प्रभु खुद ही मेरे कमरे में आ, दस्तक देते हैं,
कमरा खाली रहे तब न...
वे मेरे आराध्य करें उसमें प्रवेश...!

Statement about ownership and other particulars about Newspaper (Agnishikha) to be published in the first issue every year after the last day of February.

Form IV (see Rule 8)

1. Place of publication	Sri Aurobindo Ashram Pondicherry - 605 002
2. Periodicity of its publication	Monthly
3. Printer's Name	Swadhin Chatterjee
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Ashram Press Pondicherry - 605 002
4. Publisher's Name	Pradeep Narang
Nationality	Indian
Address	Sri Aurobindo Society Pondicherry - 605 002
5. Editor's Name	Vandana
Nationality	Indian
Address	Pondicherry - 605 002
6. Names and Addresses of individuals who own the newspaper and partners or shareholders holding more than one per cent of the total capital	Sri Aurobindo Society Pondicherry - 605 002

I, Pradeep Narang hereby declare that the particulars given above are true to the best of my knowledge and belief.

21 February 2016

(sd) Pradeep Narang
Signature of Publisher

श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर,झुंझुनूं
श्रीअरविन्द दिव्य जीवन शिक्षा-केन्द्र, झुंझुनूं (राजस्थान)

श्रीअरविन्द सोसायटी द्वारा स्थापित इस संस्था का मूल उद्देश्य श्रीअरविन्द व श्रीमां के मनुष्य जाति के लिए दिव्य जीवन के स्वप्न को साकार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यह केन्द्र ऐसे श्रद्धालुओं के समूह के निर्माण की अभीप्सा रखता है जिनके जीवन का केवल यही उद्देश्य हो।

यह केन्द्र पूर्ण रूप से आवासीय है जिसमें छात्र-छात्राओं की शिक्षा, आवास व भोजन पूर्णतः निःशुल्क है। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। शैक्षणिक सत्र हर वर्ष १५ अगस्त से प्रारम्भ होता है तथा केवल ६ से १२ वर्ष तक की आयु के बच्चों को ही प्रवेश दिया जाता है।

यह केन्द्र पूर्ण शिक्षा प्रदान करने तथा व्यक्ति के सर्वांगीण विकास के लिए समस्त साधन प्रदान करने की अभीप्सा रखता है। जो अभिभावक अपने बच्चों के लिये सरकारी प्रमाण-पत्र, डिग्री व डिप्लोमा की आकांक्षा नहीं रखते अपितु उनकी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के अनुरूप उनके पूर्ण व सर्वांगीण विकास की अभीप्सा रखते हैं और अपने बच्चों को इस शिक्षण-संस्था में प्रवेश दिलाने के इच्छुक हैं, वे पूरी सूचना के लिए निम्नलिखित पते पर संपर्क करें।

जो आध्यात्मिक पिपासु इस केन्द्र के कार्य में सहयोगी होना चाहते हैं तथा अपना जीवन इस कार्य में लगाकर साधनामय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं, वे लोग अधिक जानकारी के लिए संपर्क करें :

पंकज बगड़िया
श्रीअरविन्द डिवाइन लाइफ एजुकेशन सेन्टर
मीरा अम्बिका भवन, खेतान मोहल्ला
पो०-झुंझुनूं – ३३३००१ (राजस्थान)
टेलीफोन – (०१५९२) २३५६१५
टेलीफैक्स – २३७४२८
e-mail: sadlecjjn@rediffmail.com
URL: WWW.sadlec.org

उनकी कृपा का स्पर्श कठिनाई को सुयोग में, विफलता को सफलता में और दुर्बलता को अविचल बल में परिणत कर देता है। भगवती माँ की कृपा परमेश्वर की अनुमति है, आज हो या कल, उसका फल निश्चित है, पूर्वनिर्दिष्ट अवश्यंभावी और अनिवार्य है ।

— श्रीअरविन्द

अमरनाथ शिक्षण संस्थान, मथुरा (उ.प्र.)

फोन– 0565–3240006, 9358340375

Website : anvaschool.org, Email-amarnath.mtr1@rediffmail.com

Date of Publication: 1st **March 2016**
Rs. 15.00 (Monthly) Registered: SSP/PY/47/2015-2017
RNI No.18135/70 WPP No.TN/PMG/(CCR)/WPP-472/15-17

vatika
creating lasting value

MatriKiran
SOHNA ROAD

ADMISSIONS OPEN:
Pre-Nursery to Grade 7 2014-15 Session

www.matrikiran.in • (0124) 400-5505

Your child has 5 facets

So should his education

"The most precious gift you can give a child is The Love of Learning" – The Mother